

## द्वितीय अध्याय सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य

- 2.1 सामाजिक सरोकर : अर्थ, परिभाषा एवं महत्त्व
- 2.2 व्यक्ति : परिभाषा एवं स्वरूप
- 2.3 परिवार : परिभाषा एवं स्वरूप
- 2.4 समाज : परिभाषा एवं स्वरूप
- 2.5 व्यक्ति, परिवार और समाज का सम्बन्ध
- 2.6 सामाजिक सरोकार के महत्त्वपूर्ण घटक
  - 2.6.1 पारिवारिक आधार
    - 2.6.1.1 संयुक्त परिवार
    - 2.6.1.2 विवाह
    - 2.6.1.3 दाम्पत्य सम्बन्ध
    - 2.6.1.4 पारिवारिक सम्बन्ध
    - 2.6.1.5 पारस्परिक प्रेम एवं पारिवारिक भावना
  - 2.6.2 सामाजिक व्यवस्था
    - 2.6.2.1 सामाजिक व्यवस्था के तत्त्व
  - 2.6.3 सांस्कृतिक प्रतिमान
    - 2.6.3.1 संस्कृति : अर्थ एवं परिभाषा
    - 2.6.3.2 सांस्कृतिक प्रतिमान : अर्थ एवं परिभाषा
    - 2.6.3.3 सांस्कृतिक प्रतिमान के तत्त्व
  - 2.6.4 सामाजिक परिवर्तन बनाम स्त्री की बदलती रूढ़ छवि

## द्वितीय अध्याय

### सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य

#### 2.1 सामाजिक सरोकर : अर्थ, परिभाषा एवं महत्त्व

मनुष्य के सामाजिक जीवन का आधार समाज है। समाज में परिवार, राजनीति, अर्थव्यवस्था, धर्म, नैतिकता तथा संस्कृति आदि से सम्बद्ध संस्थाओं एवं प्रणालियों का उद्भव एवं विकास होता है। व्यक्ति के जीवन से जुड़े इन विविध पक्षों, संस्थाओं एवं प्रणालियों के सामूहिक रूप को ही सामाजिक सरोकार अथवा सामाजिक जीवन की संज्ञा दी जाती है। समाज की समस्याओं की उलझी हुई गुत्थियों को सुलझाना भी सामाजिक सरोकार है।

समाज और साहित्य का मौलिक सम्बन्ध है। साहित्य जब-जब सामाजिक संदर्भों से जुड़ता है, समाज के सरोकारों का सच्चा विश्लेषण करता है, तब-तब उसकी विश्वसनीयता कायम रहती है। वह जनमानस के लिए प्रेरणादायी बनता है। प्रत्येक कृति राजनीतिक-सामाजिक सरोकार, धार्मिक या दार्शनिक विरासत, जाति और वर्ग संस्कारों के प्रभाव में से ही साहित्यिक तथा वैचारिक दृष्टि प्राप्त करती है। सामाजिक सरोकार साहित्यिक रचनाओं में अनेक रूपों में प्रकट होता है, साहित्यकार की प्रतिक्रिया, दृष्टिकोण, मानसिकता, सामाजिक व्यवस्था के प्रति उसकी भूमिका आदि रूपों में वह अपने सरोकार को अभिव्यक्त करता है, यह कार्य पात्रों, प्रसंगों, टिप्पणियों आदि के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। साहित्यकार के सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, नैतिक संस्कार भी सामाजिक सरोकारों के स्वरूपों को निश्चित करने में सहायक सिद्ध होते हैं। ये सरोकार कभी अभिव्यक्ति में नितांत स्फीत होते हैं तो कभी अंतः सलीला की भांति प्रच्छन्न रूप से प्रवाहमान होते रहते हैं।

सामाजिक सरोकार पर विस्तृत चर्चा करने से पूर्व 'सरोकार' शब्द को व्याख्यायित करना आवश्यक है क्योंकि साहित्य सामाजिक सरोकारों का ही प्रतिफल है। 'सामाजिक' का अर्थ- समाज से जुड़ा होना है। 'सरोकार' का अर्थ-प्रयोजन, वास्ता, ताअल्लुक, पहलू, संदर्भ, आयाम, सम्बन्ध तथा परिणाम आदि से है। सरोकार

शब्द मूलतः फारसी भाषा का शब्द है। जिसके लिए अंग्रेजी भाषा का शब्द 'कन्सन' बेहद सटीक है। प्रत्येक साहित्यकार समाज का एक अंग है। समाज की परिस्थितियों के साथ उसका भावात्मक सरोकार होता है। साहित्यकार समाज के प्रति जितना अधिक संवेदनशील होता है, उसका सामाजिक सरोकार उतना ही गहरा होता है। अमृतराय के शब्दों में, "एक तो अपनी उस प्रतिबद्धता की डोरी से बंधा रहने के कारण उसका कर्म तरह-तरह के थपेड़ों में पड़कर (जिनसे मेरा आशय जीवन के सुख-दुःख से भी है और वैचारिक प्रसंगों से भी) बहकने या भटकने नहीं पाता, कभी कुछ भटकाव आता भी है तो फिर जल्दी ही अपना ठीक रास्ता मिल जाता है। दूसरी यही प्रतिबद्धता उसकी रचनावृद्धि की स्फूर्ति भी होती है।"<sup>1</sup> समाज के व्यक्तियों की भावनाओं, आकांक्षाओं एवं संघर्षों को रूपायित करना और अवांछित तत्त्वों का प्रतिकार करना साहित्यकार का दायित्व होता है।

विभिन्न शब्दकोशों में 'सरोकार' को इस प्रकार पारिभाषित किया गया है—

- **उर्दू-हिन्दी कोश के अनुसार**, 'सरोकार' को 'प्रयोजन', 'लगाव' शब्दों से अभिहित किया गया है।<sup>2</sup>
- **बृहत् हिन्दी कोश में**, 'सरोकार' को 'लगाव', 'वास्ता', 'प्रयोजन' से संबोधित किया गया है।<sup>3</sup>
- **प्रामाणिक हिन्दी कोश के शब्दानुसार**, 'सरोकार' शब्द को 'आपस के व्यवहार का सम्बन्ध', 'लगाव', 'वास्ता' से जोड़ा गया है।<sup>4</sup>
- **भाषा शब्द-कोश के अनुसार**, 'वास्ता', 'लगाव', 'ताल्लुक', 'सम्बन्ध', 'प्रयोजन', 'परस्पर व्यवहार' शब्द 'सरोकार' हेतु प्रयुक्त किये गये हैं।<sup>5</sup>

---

1 आतुर, प्रकाश (संपा०), साहित्य का सरोकार और प्रतिबद्धता, राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर, सन्-1988, पृ० सं०-80

2 वर्मा, रामचन्द्र (संपा०), उर्दू-हिन्दी कोश, लोकभारती प्रकाशन, वाराणसी, नौवाँ संस्करण-सन् 1998, पृ० सं०-325

3 प्रसाद, कालिका, सहाय, राजबल्लभ, श्रीवास्तव, मुकुन्दीलाल (संपा०), बृहत् हिन्दी कोश, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, बनारस, 2009 विक्रम संवत्, पृ०सं०-1385

4 वर्मा, रामचन्द्र (संपा०), प्रामाणिक हिन्दी कोश, हिन्दी साहित्य कुटिर, बनारस, द्वितीय संस्करण-2008 विक्रम संवत्, पृ० सं०-1294

5 'रसाल', रमाशंकर शुक्ल (संपा०), भाषा शब्द-कोश, रामनारायण लाल प्रकाशन, प्रयाग, तृतीय संस्करण-2008 विक्रम संवत्, पृ० सं०-1825

- **हिन्दी-शब्दसागर के अन्तर्गत**, 'परस्पर व्यवहार का सम्बन्ध', 'लगाव', 'वास्ता', 'प्रयोजन', 'मतलब' शब्द 'सरोकार' को अभिहित करते हैं।<sup>1</sup>
- **हिन्दी राष्ट्रभाषा कोश के मतानुसार**, 'सरोकार' को 'आपस के व्यवहार का सम्बन्ध', 'लगाव', 'वास्ता' शब्दों से संबोधित किया गया है।<sup>2</sup>

सरोकार का सीधा अर्थ प्रयोजन, सम्बन्ध तथा संदर्भ से लिया जा सकता है। आधुनिक परिस्थितियाँ इतनी जटिल हैं कि मनुष्य के आपसी सम्बन्ध आज अनेक स्तरों पर सवालियों के घेरे में आ खड़े हो गये हैं। रचनाकार वह संवेदनशील प्राणी है जो जनमानस की मुक्ति का मार्ग प्रशस्त कर सकता है। उसकी सृजनशीलता ही सामाजिक सरोकार का रूप ग्रहण करती है। वस्तुतः सत्य यह भी है कि लेखक और समाज का अभिन्न सम्बन्ध होता है तथा लेखक की रचनात्मक शक्ति सामाजिक समस्याओं और विसंगतियों को दूर करती है।

आज सामाजिक सरोकार प्रगतिशील साहित्य का अनिवार्य मुहावरा बन गया है, जिसकी अपनी सार्थकता समाज में और समाज से अर्जित होती है। साहित्य मूलतः अस्वाद्यमूलक विधा है, जिसमें विचार को भी भाव धारा में स्नात् होकर ग्राह्यता प्राप्त करनी होती है। देशकालिक संदर्भ भी रागात्मक संगति में व्यक्त होते हैं। भारतीय साहित्यिक दृष्टि, मानवीय मूल्यों की सामाजिक चिंतन से संभूत है। इस संदर्भ में, डॉ० नन्दलाल मेहता वागीश ने अपने आलेख 'साहित्य और सामाजिक सरोकार' में लिखा है, "साहित्य के सामाजिक सरोकार तो वे मानवीय मूल्य हैं जो हर देश और हर युग में मनुष्य-हृदय को निजी राग-द्वेष से मुक्त कर उसे शेष जगत् के साथ तादात्म्य भाव स्थापित करने की रागात्मकता से धन्य करते हैं। ऐसे मानवीय मूल्यों में सत्य, प्रेम, क्षमा, दया, करुणा, स्नेह, अनुराग, वात्सल्य, धीरता-वीरता, अहिंसा, औदार्य, मैत्री, सहयोग, संयम, कर्तव्य-पालन, व्यवहार-माधुर्य और सवर्भूत हितैषिता जैसे लोक हितकारी मनोभाव लक्षित किए जा सकते हैं। वे

1 दास, श्यामसुंदर (संपा०), हिन्दी-शब्दसागर (भाग-चौथा), नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी, 1928 विक्रम संवत्, पृ० सं०-3476

2 श्रीवास्तव, विश्वेश्वरनारायण (संकलनकर्ता), हिन्दी राष्ट्रभाषा कोश, इंडियन प्रेस लि०, प्रयाग, सन्-1952, पृ० सं०-1426

सभी मानवीय मूल्य सत्य, शिव और सुंदर महाभाव—समष्टि की आचरणमूलक अभिव्यक्तियाँ हैं।<sup>1</sup>

सरोकार के विभिन्न रूप हैं। जहाँ समाज से जुड़े मुद्दे होते हैं वहाँ सामाजिक सरोकार की बात होती है। अपने परिवार का भरण—पोषण करने के लिए व्यक्ति को जीविका के लिए कोई—न—कोई व्यवसाय भी अपनाना पड़ता है, उस स्थान पर आर्थिक सरोकार अस्तित्व में आता है। समाज में रहने वाले विभिन्न व्यक्तियों की रुचियाँ एवं हित भी भिन्न—भिन्न होते हैं। इसके फलस्वरूप उनमें परस्पर विरोध उत्पन्न होने की संभावना सदैव बनी रहती है। विभिन्न व्यक्तियों के हितों में परस्पर समन्वय स्थापित करने तथा समाज में शांति—व्यवस्था बनाये रखने के लिए नियमों एवं कानूनों की आवश्यकता अनुभव होती है, उस स्थिति में राजनीतिक सरोकार का विकास होता है। 'धर्म' व्यक्ति को आध्यात्मिक आधार एवं मानसिक सुरक्षा प्रदान करता है। धर्म एवं संस्कृति की चर्चा धार्मिक सरोकार को जन्म देती है। समाज में रहते हुए व्यक्ति, दूसरे व्यक्तियों के साथ अच्छा व्यवहार करने का प्रयत्न करता है, उसके उचित प्रयास नैतिक सरोकार को उत्पन्न करते हैं।

सामाजिक सरोकार सामाजिक संदर्भ में विशेष बात है। सामाजिक सरोकार का महत्त्व इसलिए भी बढ़ जाता है क्योंकि सामाजिक संदर्भ से किसी वस्तु का आकलन किया जाता है। चाहे वह साहित्य का क्षेत्र ही क्यों न हो। साहित्य को सामाजिक दृष्टि से परखने पर साहित्य और समाज के विभिन्न मुद्दे रेखांकित होते हैं। साहित्यकार अपनी रचना में सामाजिक यथार्थ को निरूपित करके सुंदरतम विकल्प का संकेत देता है तथा इसी आधार पर अपने सृजनात्मक दायित्व को प्रामाणित करने का प्रयास करता है। साहित्यकार युगीन परिवेश और सामाजिक जीवनानुभवों से सम्बन्ध स्थापित कर मानवीय संदर्भों में साहित्य का सृजन करता है। समाज के प्रति सजग रचनाकार अपनी मूल्य चेतना तथा भावात्मक संपृक्ति को समाज में व्याप्त विषमताओं, विसंगतियों और विद्रूपताओं के विरुद्ध अभिव्यक्त करता

---

1 कुमार, बी० बी० (संपा०), चिन्तन—सृजन (त्रैमासिक पत्रिका), आस्था भारती, दिल्ली, अक्टूबर—दिसम्बर 2005, पृ० सं०—89

है। समाज की पारिवेशिक स्थितियों में ही साहित्यकार की संवेदनशीलता स्पंदित होती है। मृणाल पाण्डे एक ऐसी ही लेखिका हैं, सामाजिक सरोकार ही उनकी सृजन प्रेरणा और रचनात्मक संयम का प्रमाण है।

## 2.2 व्यक्ति : परिभाषा एवं स्वरूप

‘व्यक्ति’ शब्द अंग्रेजी के ‘इंडिविज्युअल’ का पर्याय है। अर्थात् “अविभाज्य सत्ता जो स्वतंत्र संख्या की दृष्टि से एक हो तथा जो अन्य प्राणियों से अपने विशिष्ट व्यक्तित्व के कारण अलग किया जा सकता है, वही व्यक्ति है।”<sup>1</sup> बृहत् हिन्दी कोश में ‘व्यक्ति’ के दो अर्थ दिए गये हैं, “क्रियागत अर्थ में व्यक्ति का मतलब है व्यक्त या प्रकट होने की क्रिया, संज्ञा के रूप में व्यक्ति को जाति या समष्टि का उलटा व्यक्ति अथवा जन बतलाया गया है।”<sup>2</sup> मानक हिन्दी कोश के अनुसार, “व्यक्ति वह है जिसका कोई अलग और स्वतंत्र रूप या सत्ता हो।”<sup>3</sup> हिन्दी साहित्य कोश के शब्दानुसार, “व्यक्ति वह है जो स्वयं सत्ता रखता हो अर्थात् समाज में रहकर भी अपना वैशिष्ट्य रखता हो तथा प्रत्येक कार्य करने के पीछे चरित्रगत विशेषताएँ रखता हो— उसका संपूर्ण स्नेह, समूचा लगाव अहं के जीवित संपर्क से ही है और अति स्वार्थमयी प्रवृत्तियाँ ही उसकी प्रेरणा शक्ति हैं।”<sup>4</sup>

‘व्यक्ति’ समाज का आधार एवं महत्त्वपूर्ण इकाई है जिसके अभाव में समाज का अस्तित्व संभव नहीं है क्योंकि व्यक्तियों के आपसी सम्बन्धों का नाम ही ‘समाज’ है। ‘व्यक्ति’ को व्याख्यायित करने हेतु विभिन्न विद्वानों ने अनेक परिभाषाएँ दी हैं—

- **मॉरिस विलियम के अनुसार,** “व्यक्ति से अभिप्राय है ‘एक भाग’, एक भिन्न अस्तित्व के रूप में जीवित प्राणी।”<sup>5</sup>

1 टोप्पो, मोल्टिना, हिन्दी के आँचलिक उपन्यासों की सांस्कृतिक चेतना, सत्यम् पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, सन्-2009, पृ० सं०-57

2 प्रसाद, कालिका, सहाय, राजबल्लभ, श्रीवास्तव मुकुन्दीलाल (संपा०), बृहत् हिन्दी कोश, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, बनारस, 2009 विक्रम संवत्, पृ० सं०- 1257

3 वर्मा, रामचन्द्र, मानक हिन्दी कोश (पाँचवा खण्ड), हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सन्-1966, पृ० सं०-124

4 वर्मा, धीरेन्द्र, हिन्दी साहित्य कोश, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, बनारस, 2015 विक्रम संवत्, पृ० सं०-744

5 उद्धृत, प्रभा, शशि, प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी कहानी में व्यक्ति, परिवार और समाज, विक्रान्त प्रेस, दिल्ली, सन्-1985, पृ० सं०-22

- जेम्स ड्रेवर ने 'व्यक्ति' को व्याख्यायित करते हुए लिखा है, "व्यक्ति विशिष्ट गुणों और सामाजिक सम्बन्धों से युक्त विशेष प्राणी है।"<sup>1</sup>
- न्यूमैन के शब्दानुसार, "व्यक्ति वह है जो अपनी प्रतिष्ठा के लिए, प्रत्येक वस्तु से अलग अपनी स्वतंत्र सत्ता रखता हो।"<sup>2</sup>
- हैरॉल्ड सैक्सटन के मतानुसार, "मनुष्य एक शारीरिक जीवधारी रचना है, एक जीवित वस्तु है और जटिल नाड़ी-मण्डल है। असीमित क्रम-संचय तथा अपने-अपने नाड़ी-तंतुओं के योग से अपनी असीमित संभावनाओं के आधार पर इसने स्वच्छंद अभिलाषा, मस्तिष्क की द्वैत भावना तथा आत्मा की खोज की है।"<sup>3</sup>
- ऐंडरसन ए० वैलफ्रैड ने 'आत्म' तत्त्व को प्रमुखता प्रदान करते हुए 'व्यक्ति' को पारिभाषित करते हुए स्वीकार किया है, कि "व्यक्तित्व प्राप्त करते हुए हम 'आत्म' का विकास करते हैं। यह भावना की एक दशा है जिसे हम दूसरों के साथ व्यवहार करते हुए अपने सम्बन्ध में विकसित करते हैं। इस प्रक्रिया में हम में से प्रत्येक एक साधारण नाड़ी-मण्डल के साथ एक 'आत्म' एक 'व्यक्ति' बन जाता है।"<sup>4</sup>
- पुरुषोत्तम दुबे के अनुसार, "व्यक्ति का अर्थ वह मानव है, जिसका अपना स्वतंत्र अस्तित्व है और जिसकी स्वतंत्र अविभाज्य सत्ता उसके अस्तित्व का प्रमाण है।"<sup>5</sup>

व्यक्ति के मुख्यतः तीन आधारभूत उद्देश्य निर्धारित किये जा सकते हैं—स्वयं को सुरक्षित रखना, स्वयं को अभिव्यक्त करना तथा परिवार के नाम को स्थिर रखना। संसार में विचरण करते हुए व्यक्ति तीन नियमों के अधीन कार्य करता है—

- 
- 1 उद्धृत, प्रभा, शशि, प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी कहानी में व्यक्ति, परिवार और समाज, विक्रान्त प्रेस, दिल्ली, सन्-1985, पृ० सं०-21
  - 2 'भूपेन्द्र', सरला गुप्ता, समकालीन हिन्दी नाटक : चेतना के आयाम, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, सन्-1987, पृ० सं०-14
  - 3 उद्धृत, प्रभा, शशि, प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी कहानी में व्यक्ति, परिवार और समाज, विक्रान्त प्रेस, दिल्ली, सन्-1985, पृ० सं०-21
  - 4 यथावत्, पृ० सं०-22
  - 5 दुबे, पुरुषोत्तम, व्यक्ति चेतना और स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास, अनुपमा प्रकाशन, बंबई, सन्-1973, पृ० सं० -4

प्राकृतिक नियम, मस्तिष्क का नियम, कानून अथवा समाज का नियम। इन तीनों नियमों में भाग लेने की उसकी चेतना उसके लिए स्वतंत्रता, प्रेम—प्रतिष्ठा, पाप, असफलता तथा गौरव के आधारभूत अर्थ को स्पष्ट करती है। वेनबर्ग और शैबेट का मत है, “अपमान, घमण्ड, घृणा, गर्व, ईर्ष्या, संदेह आदि मनुष्य की साधारण भावनाएँ होती हैं और भावुकता की स्थिति में वह दया, प्रेम, घृणा, नम्रता, आदर, कृतज्ञता जैसी भावनाएँ प्रकट करता है, निर्दयता और क्रोध के द्वारा वह दूसरों के साथ क्रिया कर सकता है। अपने प्राकृतिक जीवन में उसके तीन प्रकार के सम्बन्ध होते हैं— अहं, लिंग तथा समाज। जैसे—जैसे वह विकास करता है इन सम्बन्धों की मांगें अनुभव करता है।”<sup>1</sup>

अतः पूर्वोक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि मनुष्य एक शरीरधारी जीव है, उसमें सामाजिक अनुभव की अन्तःक्रीड़ा से ‘आत्म’ का विकास होता है और यही ‘आत्म’ उसमें ‘अहं’ की सृष्टि करके उसे ‘व्यक्ति’ बनाता है।

हृदयनारायण मिश्र और जमुनाप्रसाद अवस्थी ने ‘व्यक्ति’ के स्वरूप को अभिव्यक्त करते हुए लिखा है, “प्रत्येक व्यक्ति एक इकाई है, वह एक पिण्ड है, मिट्टी का बना सर्वश्रेष्ठ पुतला है, उसकी अपनी इच्छाएँ हैं, भावनाएँ हैं और अपने विचार हैं।”<sup>2</sup> समाज व्यक्तिगत जीवन का आगुंतक धर्म है। व्यक्ति समाज से पृथक् सत्ता रखते हुए भी स्वतंत्र रूप से जीवन—यापन नहीं कर सकता, वह स्नेह—सौजन्य की भावना से परिपूर्ण है तथा उसे प्रत्यक्ष ज्ञान समाज द्वारा ही हो सकता है।

प्रत्येक व्यक्ति का किसी—न—किसी समाज से सम्बन्ध होता है। मैकेजी का कथन है, “मानवीय व्यक्ति अवश्य एक विविक्त वस्तु नहीं हो सकता। अन्य व्यक्तियों के साथ उसका कोई सम्बन्ध होता है, जिससे उनका विच्छेदन अकल्पनीय है। मनुष्य के संपूर्ण अर्थ और मूल्य, उन आदर्शों, संस्थाओं और नैतिक आदतों के रंग में रंगे होते हैं, जिनमें उनका जीवन विकसित होता है।”<sup>3</sup> व्यक्ति ज्यों—ज्यों

1 उद्धृत, प्रभा, शशि, प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी कहानी में व्यक्ति, परिवार और समाज, विक्रान्त प्रेस, दिल्ली, सन्-1985, पृ० सं०-22

2 मिश्र, हृदयनारायण, अवस्थी, जमुनाप्रसाद, नीतिशास्त्र की भूमिका, हरियाणा ग्रंथ अकादमी, चण्डीगढ़, सन्-1976, पृ० सं०-256

3 सिन्हा, जे० एन०, नीतिशास्त्र, जयप्रकाश एण्ड कंपनी, मेरठ, तेरहवाँ संस्करण—सन् 1989, पृ० सं०-263

विकास की ओर अग्रसर होता है, उसे पालन-पोषण, रक्षा-शिक्षा, व्यक्तित्व आदि के लिए समाज पर आश्रित रहना पड़ता है। समाज में रहकर ही, मनुष्य अपनी शारीरिक, बौद्धिक और भावात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति, विचारशीलता के आधार पर अपने व्यक्तित्व का विकास, विपत्तियों से अपनी रक्षा करना तथा अपने जीवन को आनन्दमयी बनाना सीखता है।

व्यक्ति और समाज एक-दूसरे के पूरक हैं। डॉ० शशि जैन के मतानुसार, “व्यक्ति समाज का आधार है, उसका निर्माता है तो वह समाज की उपज भी है। व्यक्तिविहीन समाज की कल्पना भी नहीं की जा सकती।”<sup>1</sup> समाज मनुष्य की गतिशीलता को सार्थक रूप देता है। प्लेटो का मानना है कि, “सामाजिकता मानव की अनिवार्यता है, क्योंकि मानव अपने मूल में अपूर्ण है। उसकी अपनी सीमाएँ हैं, अपने आप वह न तो अपनी अपूर्णता को दूर कर सकता है और न सीमाओं का अतिक्रमण। वह आत्मनिर्भर भी नहीं हो पाता। ऐसी स्थिति में अपनी अपूर्णता प्राप्ति के लिए राज्य या समाज का अवलम्बन स्वीकार करना अनिवार्य और अपरिहार्य हो जाता है।”<sup>2</sup> मानव-जीवन की विशिष्टतम् विशेषता उसका सामाजिक स्वरूप है।

समाज में रहते हुए व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास करता है। सभी सामाजिक सम्बन्धों से उसका परिचय समाज में रहकर होता है। व्यक्ति के लिए समाज और समाज के लिए व्यक्ति आवश्यक है, अर्थात् व्यक्ति से समाज का अस्तित्व और समाज में ही व्यक्ति की सार्थकता है। सामाजिक प्राणी के रूप में मनुष्य ने अपने व्यक्तित्व के आदि क्षणों से लेकर आज तक की विकास यात्रा को अभूतपूर्व इतिहास-काल पर अंकित किया है। जैविक धरातल पर व्यक्ति पशु है। “थ्योरी ऑफ इवॉल्यूशन” विकास का सिद्धान्त इस बात का साक्षी है कि मनुष्य अपने प्राचीनतम रूप में पशुवत् व्यवहार किया करता था। व्यक्ति जब जन्म लेता है तो वह साधारण प्राणी होता है। समाज में रहकर व्यक्ति का आत्मभाव विकसित होता है। प्रत्येक व्यक्ति की कोई-न-कोई अलग विशेषता होती है जो उसे दूसरों

1 जैन, शशि (डॉ०), सैद्धान्तिक समाजशास्त्र, कॉलेज बुक डिपो, जयपुर, सन्-1989, पृ० सं०-24

2 अग्रवाल, गीता रानी, भारतीय समाज-दर्शन, न्यू भारतीय बुक कॉर्पोरेशन, दिल्ली, सन्-2007, पृ० सं०-24

से अलग करती है। अपनी इस विशेषता के कारण ही व्यक्ति अपना अलग स्थान स्थापित करने के योग्य बनता है।<sup>1</sup>

स्पष्टतः कहा जा सकता है कि प्रत्येक मनुष्य व्यक्ति है, जो दूसरों से भिन्न है। वह एक भाग, एक भिन्न अस्तित्व के रूप में जीवित प्राणी है। प्रत्येक कार्य का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष मूलाधार नियामक व्यक्ति ही है। व्यक्ति से परिवार, परिवार से जातियाँ, जातियों से समाज, सम्प्रदाय तथा धर्म निर्मित होते हैं, धर्मों से देश और देशों के मिलन से संसार बनता है।

### 2.3 परिवार : परिभाषा एवं स्वरूप

‘परिवार’ प्राथमिक एवं भावात्मक लघु संगठन है। ‘परिवार’ शब्द ‘वृ’ धातु में ‘परि’ उपसर्ग, जिसका अर्थ ‘घेरना’ है, एवं ‘घञ’ प्रत्यय के योग से निष्पन्न हुआ है।<sup>2</sup> ‘परिवार’ शब्द संस्कृत भाषा से गृहीत तत्सम शब्द है। अंग्रेजी में परिवार का पर्यायवाची शब्द है—फैमिली (family)। “अंग्रेजी का शब्द फैमिली लैटिन शब्द Famulas से बना है जिसका अर्थ है ‘सेवक’।<sup>3</sup> इससे स्पष्ट होता है कि परिवार का अर्थ किसी भी ऐसे समूह से है जिसके सदस्य सेवा-भाव से एक-दूसरे के साथ रहते हैं। बृहत् हिन्दी कोश में ‘परिवार’ के विषय में लिखा है, “कुटुंब आदि, आश्रित-जन, परिजन, अनुचरों का समूह, समूह।<sup>4</sup> हिन्दी विश्वकोश के अनुसार, “परिवार साधारणतया पति-पत्नी और बच्चों के समूह को कहते हैं, किन्तु दुनिया के अधिकांश भागों में वह सम्मिलित वास वाले रक्त सम्बन्धियों का समूह है जिसमें विवाह और दत्तक प्रथा द्वारा स्वीकृत व्यक्ति भी सम्मिलित हैं। सभी समाजों में बच्चों का जन्म और पालन-पोषण परिवार में होता है। बच्चों का संस्कार करने और समाज के आचार व्यवहार से उन्हें दीक्षित करने का काम मुख्य रूप से परिवार में होता है। इसके द्वारा समाज की सांस्कृतिक विरासत एक से दूसरी पीढ़ी को

- 
- 1 कुप्पूस्वामी, बी०, समाज-मनोविज्ञान : एक परिचय, हरियाणा ग्रंथ अकादमी, चण्डीगढ़, सन्-1972, पृ० सं०-30
  - 2 उद्धृत, अरोडा, ज्ञानवती, समसामयिक हिन्दी कहानी में बदलते पारिवारिक सम्बन्ध, सूर्य-प्रकाशन, दिल्ली, सन्-1989, पृ० सं०-75
  - 3 अग्रवाल, गोपाल कृष्ण, समाजशास्त्र, साहित्य सदन, आगरा, सन्-1980, पृ० सं०-204
  - 4 प्रसाद, कालिका, सहाय, राजबल्लभ, श्रीवास्तव मुकुन्दीलाल (संपा०), बृहत् हिन्दी कोश, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, बनारस, 2009 विक्रम संवत्, पृ० सं०-757

हस्तांतरित होती है। व्यक्ति की सामाजिक मर्यादा बहुत कुछ परिवार से ही निर्धारित होती है। नर-नारी के यौन-सम्बन्ध मुख्यतः परिवार के दायरे में निबद्ध होते हैं।<sup>1</sup>

समाजशास्त्रीयों ने 'परिवार' को अलग-अलग ढंग से परिभाषित किया है—

- **मैकाइवर तथा पेज के अनुसार**, “परिवार पर्याप्त निश्चित यौन-सम्बन्ध द्वारा परिभाषित एक ऐसा समूह है जो बच्चों को पैदा करने तथा लालन-पालन करने की व्यवस्था करता है।”<sup>2</sup>
- **बर्जेस तथा लॉक के शब्दानुसार**, “परिवार ऐसे व्यक्तियों का समूह है जो विवाह, रक्त अथवा गोद लेने के सम्बन्धों द्वारा संगठित है, जो एक छोटी-सी गृहस्थी का निर्माण करते हैं, और पति-पत्नी, माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई तथा बहिन के रूप में एक-दूसरे से अन्तःक्रियाएँ तथा एक सामान्य संस्कृति का निर्माण तथा देखरेख करते हैं।”<sup>3</sup>
- **जुकरमैन ने 'परिवार' की परिभाषा इस प्रकार दी है**, “एक परिवार समूह पुरुष स्वामी, उसकी स्त्री या स्त्रियों और उनके बच्चों को मिलाकर बनता है और कभी-कभी इसमें एक या अधिक अविवाहित पुरुषों को भी सम्मिलित किया जा सकता है।”<sup>4</sup>
- **ऑगबर्न और निमकॉफ के मतानुसार**, “परिवार लगभग एक स्थायी समिति है जो पति-पत्नी से निर्मित होती है, चाहे उनके सन्तान हो अथवा न हो।”<sup>5</sup>
- **जी० पी० मरडॉक के कथनानुसार**, “परिवार सामान्य निवास, आर्थिक सहयोग एवं प्रजनन की विशेषताओं से युक्त एक सामाजिक समूह है। इसमें दोनों लिंगों के व्यस्क सदस्य सम्मिलित होते हैं, जिनमें से कम-से-कम दो में समाज से मान्यता प्राप्त स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध हों तथा एक या अधिक बच्चे अपने हों या गोद लिए हों।”<sup>6</sup>

---

1 उद्धृत, जैन, महेन्द्र कुमार, हिन्दी उपन्यासों में पारिवारिक चित्रण, जैन ब्रदर्स, दिल्ली, सन्-1974, पृ० सं०-3

2 मुकर्जी, रवीन्द्रनाथ, भारतीय सामाजिक संस्थाएँ, सरस्वती सदन, दिल्ली, सन्-1975, पृ० सं०-284

3 अग्रवाल, गोपाल कृष्ण, समाजशास्त्र, साहित्य भवन, आगरा, सन्-1980, पृ० सं०-204

4 तोमर, रामबिहारी सिंह, भारतीय सामाजिक संस्थाएँ, दत्त बन्धु प्रा० लि०, अजमेर, सन्-1960, पृ० सं०-355

5 अग्रवाल, गोपाल कृष्ण, समाजशास्त्र, साहित्य भवन, आगरा, सन्-1980, पृ० सं०-205

6 उद्धृत, अरोड़ा, ज्ञानवती, समसामयिक हिन्दी कहानी में बदलते पारिवारिक सम्बन्ध, सूर्य-प्रकाशन, दिल्ली, सन्-1989, पृ० सं०-77

- **किंग्सले डेविस के अनुसार,** “परिवार ऐसे व्यक्तियों का समूह है जिनके एक-दूसरे के प्रति सम्बन्ध सगोत्रता (Consanguinity) पर आधारित होते हैं और जो इस प्रकार एक-दूसरे के रक्त-सम्बन्धी होते हैं।”<sup>1</sup>
- **डॉ० मजूमदार के शब्दों में,** “परिवार ऐसे व्यक्तियों का समूह है जो एक मकान में रहते हैं, रक्त-सम्बन्धित हैं और स्थान, स्वार्थ तथा पारस्परिक कर्तव्य बोध के आधार पर समान होने की चेतनता या भावना रखते हैं।”<sup>2</sup>

‘परिवार’ के विषय में विद्वानों में मतैक्य है परंतु यह निश्चित है कि परिवार स्त्री-पुरुष के यौन-सम्बन्धों द्वारा संगठित एक स्थायी व्यवस्था है। मनुष्य का जन्म, विकास और सांस्कृतिकरण परिवार से ही प्रारंभ होता है। परिवार को विवाह, संतानोत्पत्ति और वंशनाम के आधार पर व्यवस्थित रखा जा सकता है।

विश्व के सभी समाजों में, आदिमयुग से लेकर आज तक किसी-न-किसी रूप में परिवार का अस्तित्व सदैव रहा है। परिवार व्यक्तियों का वह समूह माना गया है, जो एक-दूसरे पर आश्रित एवं परस्पर सम्बद्ध होते हैं। सामाजिक संगठन को निरंतर गतिशील बनाये रखने के लिए परिवार नामक संस्था की आवश्यकता है। मानव की मूलभूत जैविकीय आवश्यकताएँ, यथा- यौनेच्छा, संतानोत्पत्ति, मातृ-पितृ भावना आदि परिवार में सम्पन्न होती हैं। परिवार का प्रत्येक सदस्य अपने स्तर पर एक-दूसरे के प्रति अपना उत्तरदायित्व निभाता है। “परिवार आपसी हितों की रक्षा करता हुआ एक वंशावली से सम्बन्धित पति-पत्नी और बच्चों सहित या रहित वह संस्था है, जिसके सदस्यों में उत्तरदायित्व का आर्थिक सामर्थ्य और शक्ति के अनुसार पारिवारिक साधनों और स्नेह का बराबर विभाजन होता है।”<sup>3</sup> सामाजिक संगठन में परिवार एक लघु इकाई है। समाज का आधारभूत समुदाय परिवार ही है। परिवार का रचनात्मक प्रभाव तथा उसके लक्षण सदस्यों में झलकते हैं। फ्रायड एवं अनेक मनोवैज्ञानिकों ने स्वीकार किया है कि व्यस्क होने पर बच्चे में पैतृक गुण

1 अग्रवाल, गोपाल कृष्ण, समाजशास्त्र, साहित्य भवन, आगरा, सन्-1980, पृ० सं०-205

2 तोमर, रामबिहारी सिंह, भारतीय सामाजिक संस्थाएँ, दत्त बन्धु प्रा० लि०, अजमेर, सन्-1960, पृ० सं०-205

3 केसर, कीर्ति, स्वातंत्र्योत्तर कहानी का समाज सापेक्ष अध्ययन, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, सन्-1989, पृ० सं०-106

लक्षित होते हैं। “कल्पयूशस’ ने तो यहाँ तक कहा था कि यदि समाज को सुधारना है तो परिवार को पहले सुधारना होगा। अच्छे परिवार में उत्पन्न होना जीवन की, भाग्य की सबसे बड़ी देन है। अच्छे गुणों से रहित परिवार में जन्म लेना, संसार की एक ऐसी बुराई है, जिसे कोई दूर नहीं कर सकता।”<sup>1</sup> परिवार में ही बालक सामाजिक दायित्व का प्रथम पाठ सीखता है। मैकाइवर महोदय के शब्दों में, “संकट और संघर्ष में व्यक्ति कार्य कर सकता है, अपने देश के लिए जूझ सकता है, मर सकता है, परंतु अपने परिवार के लिए भी अथक् परिश्रम करता है। बालक के समाजीकरण का सबसे बड़ा कारक परिवार है।”<sup>2</sup>

व्यक्ति और समाज के लिए परिवार अत्यधिक महत्त्वपूर्ण संस्था है। एण्डरसन का कथन है, “एक कार्यात्मक इकाई के रूप में परिवार इतनी महत्त्वपूर्ण संस्था है कि सभी समाज परिवार के माध्यम से ही अपने मान्यता प्राप्त लक्ष्यों को पाने का प्रयत्न करते हैं।”<sup>3</sup> परिवार समाज की रचना में सहायक है।

परिवार मात्र एक संस्था नहीं है, बल्कि वह समाज में अपना पृथक् व्यक्तित्व रखता है। ग्रोवज का मानना है, “परिवार ‘हम समूह’ है, जिसमें व्यवहार के निश्चित मानक होते हैं और न्यूनाधिक रूप से उनका निर्वाह करने के लिए प्रत्येक सदस्य बाध्य होता है। घनिष्ठ व्यक्तिगत अनुभव तथा सदस्यों की अन्योन्य क्रिया द्वारा परिवार बालक को एक ऐसी विचित्र विशिष्टता देता है जो किसी दूसरे सामाजिक समुच्चय में उसे प्राप्त नहीं हो सकती है।”<sup>4</sup> बालक की पहचान उसका परिवार ही बनता है। सभी समुदायों में परिवार ही ऐसा संगठन है जो कि मनुष्य के साथ जीवनभर रहता है। परिवार से पृथक् व्यक्ति को रहना भी पड़े तो परिवार के प्रति लगाव की भावना उसे जोड़े रखती है। लगाव की भावना उसे नैतिक—आत्मिक शक्ति प्रदान करती है।

1 अरोड़ा, ज्ञानवती, समसामयिक हिन्दी कहानी में बदलते पारिवारिक सम्बन्ध, सूर्य-प्रकाशन, दिल्ली, सन्-1989, पृ० सं०-80

2 यथावत्, पृ० सं०-80

3 अग्रवाल, गोपाल कृष्ण, समाजशास्त्र, साहित्य भवन, आगरा, सन् -1980, पृ० सं०-218

4 अरोड़ा, ज्ञानवती, समसामयिक हिन्दी कहानी में बदलते पारिवारिक सम्बन्ध, सूर्य-प्रकाशन, दिल्ली, सन् 1989, पृ० सं०-75

परिवार का आधार रक्त सम्बन्ध हैं। स्त्री-पुरुष के विवाह से इसका जन्म होता है। समिति के रूप में परिवार 'अस्थायी' है, क्योंकि पति-पत्नी में से किसी एक की मृत्यु हो जाने पर या विवाह -विच्छेद हो जाने पर परिवार-भंग हो जाता है और यह समिति भी समाप्त हो जाती है। संस्था के रूप में परिवार 'स्थायी' है, क्योंकि पति-पत्नी के न होते हुए भी किसी परिवार विशेष के समाप्त हो जाने पर परिवार की संस्था पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, यह निरंतर बनी रहती है। इसलिए एक संस्था के रूप में परिवार के नियम तथा कार्य प्रणालियाँ सदैव बने रहते हैं, जो परिवार को स्थायित्व प्रदान करते हैं, केवल कार्यशील व्यक्ति परिवर्तित होते रहते हैं। ऑगबर्न तथा निमकॉफ ने परिवार के स्वरूप को प्रतिपादित करते हुए लिखा है, "मानव-इतिहास इस बात का साक्षी है कि परिवार नामक संस्था एक बहुत ही अनुकूलनशील संस्था है और इसीलिए मानव-इतिहास के सभी उत्थान-पतन के बीच भी वह अमर है, आदि-काल से ही मानव जीवन से घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित है।"<sup>1</sup>

परिवार समाज की सार्वभौमिक एवं प्रमुख संस्था है। आज बदलते परिदृश्य में परिवार भी बदल रहा है। उसे भी नवीन अवस्थाओं के साथ अपना अनुकूलन करना ही होगा। यह मानवी प्रकृति का अविच्छिन्न अंग है। बर्जेस तथा लॉक के कथनानुसार, "परिवार एक मौखिक और सर्वव्यापी संस्था है तथा प्रत्येक समाज का जीवित रहना इसी पर आधारित है।"<sup>2</sup>

## 2.4 समाज : परिभाषा एवं स्वरूप

व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'समाज' शब्द सम् + अज के योग से निष्पन्न हुआ है। 'सम' का अर्थ है- 'सम्यक रूप से' तथा 'अज' का अर्थ है- 'जाना'। समाज शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में डॉ० संपूर्णानन्द का मत उल्लेखनीय है- "सम अजन्ति जनाः अस्मिन् इति" अर्थात् जिसमें लोग मिलकर, एक साथ, एक गति से, एक-से चलें, वही समाज है।"<sup>3</sup>

1 मुकर्जी, रवीन्द्रनाथ, भारतीय सामाजिक संस्थाएँ, सरस्वती सदन, दिल्ली, सन्-1975, पृ०सं०-330

2 तोमर, रामबिहारी सिंह, समाजशास्त्र की रूपरेखा, श्रीराम मेहरा एण्ड कंपनी, आगरा, सन्-1970, पृ०सं०-228

3 संपूर्णानन्द (डॉ०), समाजवाद, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, सन्-1960, पृ०सं०-19

समाज शब्द अंग्रेजी के सोसाइटी (Society) शब्द का हिन्दी रूपांतर है। Society शब्द की व्युत्पत्ति लैटिन भाषा के Societes शब्द से हुई है, जिसका अर्थ समिति, दल, मंडल या संस्था है।

समाज एक ऐसा संगठन है, जो हमेशा विकासशील तथा नित्य नये रूप में दृष्टिगत होता है। यह अमूर्त एवं अरूप होता है। प्रामाणिक हिन्दी कोश में 'समाज' शब्द के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा गया है, "समूह, गिरोह, एक जगह रहने वाले अथवा एक ही प्रकार का काम करने वाले लोगों का वर्ग, दल या समूह, समुदाय, किसी विशिष्ट उद्देश्य से स्थापित हुई सभा।"<sup>1</sup> भाषा शब्द कोश में 'समाज' शब्द का अभिप्राय है, "समूह, सभा, समिति, दल, वृन्द, समुदाय, संस्था, एक स्थान के निवासी तथा समान विचार वाले लोगों के समूह, किसी उद्देश्य या कार्य के लिए अनेक व्यक्तियों की बनाई या स्थापित की हुई सभा।"<sup>2</sup> बृहत् हिन्दी कोश के अनुसार, "मिलना, एकत्र होना, समूह, संघ, दल, सभा, समिति, आधिक्य, समान कार्य करने वालों का समूह, विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संगठित संस्था, ग्रहों का योग।"<sup>3</sup>

समाज एक व्यापक शब्द है। विभिन्न विद्वानों द्वारा इसे परिभाषित करने का प्रयास किया गया है—

- **मैकाइवर तथा पेज के कथनानुसार,** "समाज रीति-रिवाजों और कार्य-प्रणालियों की, अधिकार और पारस्परिक सहयोग की, अनेक समूहों और भागों की, मानव-व्यवहार के नियंत्रणों और स्वाधीनताओं की व्यवस्था है। समाज सामाजिक सम्बन्धों का जाल है।"<sup>4</sup>

---

1 वर्मा, रामचन्द्र (संपा०), प्रामाणिक हिन्दी कोश, हिन्दी साहित्य कुटिर, बनारस, द्वितीय संस्करण-2008 विक्रम संवत्, पृ०सं०-1098  
2 'रसाल', रमाशंकर शुक्ल (संपा०), भाषा शब्द-कोश, रामनारायण लाल प्रकाशन, प्रयाग, तृतीय संस्करण-2008 विक्रम संवत्, पृ० सं०-1812  
3 प्रसाद, कालिका, सहाय, राजबल्लभ, श्रीवास्तव, मुकुन्दीलाल (संपा०), बृहत् हिन्दी कोश, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, बनारस, 2009 विक्रम संवत्, पृ० सं०-1371  
4 मुकर्जी, रवीन्द्रनाथ, सामाजिक मनोविज्ञान की रूपरेखा, किताब महल, इलाहाबाद, सन्-1977, पृ० सं०-251

- **गिडिंग्स के अनुसार,** “समाज स्वयं एक संघ है, एक संगठन है, औपचारिक सम्बन्धों का योग है जिसमें सहयोगी व्यक्ति परस्पर आबद्ध हैं।”<sup>1</sup>
- **टॉलकाट पारसन्स के शब्दों में,** “समाज को उन मानवीय सम्बन्धों की पूर्ण जटिलता के रूप में पारिभाषित किया जा सकता है, जो साधन और साध्य के सम्बन्ध द्वारा क्रिया करने से उत्पन्न हुए हों, चाहे वे यथार्थ हों, अथवा प्रतीकात्मक।”<sup>2</sup>
- **रयूटर के कथनानुसार,** “(समाज) एक अमूर्त शब्द है जो एक समूह के दो अथवा अधिक सदस्यों के बीच स्थित पारस्परिक सम्बन्धों की जटिलता का बोध कराता है।”<sup>3</sup>
- **डॉ० नगेंद्र ‘समाज’ को पारिभाषित करते हुए लिखते हैं,** “समाज से अभिप्राय सामुदायिक जीवन की ऐसी अनवरत एवं नियामक व्यवस्था से है, जिसका निर्माण व्यक्ति पारस्परिक हित तथा सुरक्षा के निमित्त जाने-अनजाने कर लेते हैं।”<sup>4</sup>
- **डॉ० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा के मतानुसार,** “जब अनेक मानव एक साथ रहते हैं, तब उनके पारस्परिक सम्बन्धों से समाज बनता है। मानव समाज की इकाई है और समाज के बिना वह पूरा विकसित मनुष्य नहीं हो सकता।”<sup>5</sup>
- **शशिभूषण सिंहल के शब्दानुसार,** “समाज सोद्देश्य व्यक्तियों का गतिशील गठन है। समाज अपने सदस्यों को बाह्य घातक तत्वों द्वारा नष्ट होने से बचाता है, रक्षा कर उनके व्यक्तित्व का विकास करता है और कुछ जीवन-मूल्यों की प्रतिष्ठा कर उन्हें पाने के लिए प्रयत्नशील होता है।”<sup>6</sup>

---

1 तोमर, रामबिहारी सिंह, समाजशास्त्र के सिद्धान्त, श्रीराम मेहरा एण्ड कंपनी, आगरा, सन्-1982, पृ० सं०-64

2 अग्रवाल, गोपाल कृष्ण, समाजशास्त्र, साहित्य भवन, आगरा, सन्-1980, पृ० सं०-107

3 तोमर, रामबिहारी सिंह, समाजशास्त्र के मूल तत्त्व, श्रीराम मेहरा एण्ड कंपनी, आगरा, सन्-1975, पृ० सं०-64

4 नगेंद्र (डॉ०), साहित्य का समाजशास्त्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, सन्-1982, पृ० सं०-6

5 वर्मा, विश्वनाथ प्रसाद (डॉ०), राजनीति और दर्शन, राष्ट्रभाषा परिषद्, सम्मेलन भवन, पटना, सन्-1956, पृ० सं०-107

6 सिंहल, शशिभूषण, हिन्दी उपन्यास की प्रवृत्तियाँ, विनोद प्रकाशन, आगरा, सन्-1970, पृ० सं०-13

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि समाज व्यक्ति से व्यक्ति या प्राणी से प्राणी के मध्य विद्यमान जटिल सम्बन्ध है, जो समयानुसार परिवर्तित होता रहता है। अतः अत्यंत जटिल सामाजिक सम्बन्धों की परिवर्तनशील व्यवस्था को ही समाज कहते हैं।

समाज का स्वरूप विस्तृत है। वह केवल भीड़ का पर्याय नहीं, बल्कि एक ऐसा संगठन है, जिसमें व्यक्ति अपनी गतिविधियों के माध्यम से अन्य व्यक्तियों को प्रभावित करता है। मनुष्य जीवनयापन के लिए, जीवनोपयोगी सुख-सुविधाओं की उपलब्धि के लिए एकत्र होकर, समाज की स्थापना करता है, अपने जीवनयापन के सर्वभाव्य उद्देश्य को लेकर किसी विशेष दिशा में अग्रसर होता है। राहुल सांकृत्यायन का मानना है, “मनुष्य को पैदा होते ही बना बनाया समाज नहीं मिल गया, बल्कि प्रकृति को पराजित कर भोग उत्पादन के लिए सहयोगी श्रम और आत्मरक्षा के लिए सहयोगी संग्राम ही थे, जिन्होंने मुक्त हाथ की बढ़ी हुई शक्ति को और बढ़ाकर मनुष्य को समाज बनाने की प्रेरणा दी।”<sup>1</sup>

मनुष्य अपनी वैयक्तिक एवं सामूहिक सत्ता को बनाये रखने तथा अपने विषम आचरण में साम्य उत्पन्न करने के लिए समझौते की स्थिति को अनिवार्य मानता है। यह समझौते की स्थिति ही सामाजिक सम्बन्ध निर्धारित करती है। सामाजिक सम्बन्ध भौतिक न होकर मानसिक होते हैं और इसी कारण वे अमूर्त भी होते हैं। सामाजिक सम्बन्ध जीवधारियों में ही पाए जाते हैं। केवल जीवित मनुष्य ही सामाजिक सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। इस प्रकार समाज जीवन में ही होता है, भौतिक वस्तुओं में नहीं।

नर्मदेश्वर प्रसाद के अनुसार, “मनुष्य ऐसे सामाजिक संगठन का निर्माण तथा पुनर्निर्माण करता है, जो उसके आचार-विचार और व्यवहार को ठीक रास्ते पर ले जाए और उन पर नियंत्रण रखे। मनुष्य का यह संगठन समाज कहलाता है। समाज सामाजिक रिश्तों का जाल है।”<sup>2</sup> समाज और मानव-जीवन का अस्तित्व साथ-साथ ही संभव है। पारस्परिक जागरूक सम्बन्धों से समाज की रचना होती है, जैसे-

1 सांकृत्यायन, राहुल, मानव-समाज, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सन्-1993, पृ० सं०-13

2 प्रसाद, नर्मदेश्वर, मानव व्यवहार तथा सामाजिक व्यवस्था, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, पटना, सन्-1973, पृ०सं०-29

पति-पत्नी का सम्बन्ध, भाई-बहन का सम्बन्ध, ग्राहक-दुकानदार का सम्बन्ध, दो मित्रों का सम्बन्ध आदि। यह जागरूकता अथवा सचेतनता ही समाज तथा सामाजिक सम्बन्धों का अनिवार्य लक्षण है। समाज में अनेक प्रकार की पारस्परिक अंतःक्रियाएँ होती हैं, समयानुसार इनके रूप भी परिवर्तित होते रहते हैं। इस प्रकार समाज में मनुष्यों की समस्त क्रियाएँ, सम्बन्ध तथा व्यवहार सम्मिलित होते हैं। समाज 'एक प्रक्रिया' भी है। समाज में जो सार्वजनिक कार्य किये जाते हैं, वे सामान्य हित की भावना से ही प्रेरित होते हैं। समाज में सामान्य हित मानव में पारस्परिक सहयोग की भावना को भी उत्प्रेरित करते हैं।

समाज की बुनियाद अर्थ और स्त्री-पुरुष सम्बन्धों पर आधारित है। व्यक्ति के सामाजिक दायरे, पारिवारिक पृष्ठभूमि और आर्थिक व्यवस्था विस्तृत होकर समाज का रूप धारण कर लेते हैं। डॉ० कुंवरपाल सिंह समाज का आधार किसी शक्ति को न मानकर उत्पादन प्रणाली को मानते हैं, "समाज का अस्तित्व हमेशा किसी सामाजिक संरचना के रूप में ही पाया जाता है। एक ऐसे संगठन के रूप में— जो निरन्तर विकसित होता रहता है तथा जिसके प्रमुख क्रिया-कलाप किसी दैवी शक्ति पर नहीं बल्कि उत्पादन-प्रणाली के विकास पर आधारित होते हैं।"<sup>1</sup> वास्तव में, सामाजिक अन्योन्याश्रियता की आवश्यकता व्यक्ति को अपने जन्म से ही हो जाती है। इसके अतिरिक्त यौन-सम्बन्ध, संतानोत्पत्ति, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक कार्यों की पूर्ति हेतु व्यक्ति परस्पर एक-दूसरे पर निर्भर रहते हैं। सामाजिक आवश्यकताओं के साथ-साथ भाषा, वेश-भूषा, खान-पान, रहन-सहन, रीति-रिवाज आदि मनुष्यों में परस्पर निकटता पैदा करते हैं।

समाज एक अखण्ड अवस्था नहीं है, वह अनेक परिवारों, संस्थाओं, समितियों आदि विभिन्न खण्डों का एक समन्वित और व्यवस्थित रूप है। समाज सबल निर्बल व्यक्ति का समूह है, जिसने अपने हितों की रक्षा के लिए सामाजिक नियमों का पालन करना प्रारम्भ कर दिया, जिससे वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। समाज मनुष्य के लिए आवश्यक है। अरस्तु ने इस सम्बन्ध में माना है, कि

1 सिंह, कुंवरपाल (डॉ०), हिन्दी उपन्यास में सामाजिक चेतना, पांडुलिपि प्रकाशन, दिल्ली, सन्-1976, पृ० सं०-17

“वह व्यक्ति जो समाज में नहीं रह सकता अथवा जिसकी अपनी कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि वह अपने में पूर्ण है, अवश्य ही या तो पशु है अथवा परमात्मा, एक साधारण सत्य का प्रतिपादन करता है।”<sup>1</sup>

समाज की प्रगति के लिए सहकारिता का अत्यधिक महत्त्व है। सहकारिता के विपरीत संघर्ष भी समाज का गठन करता है। समाज में संघर्ष अनेक रूपों तथा स्तरों पर होता है, जैसे— दो व्यक्तियों, दो समूहों, दो वर्गों में संघर्ष। इसी तरह औद्योगिक क्षेत्र में भी संघर्ष पाया जाता है, जैसे— दो उद्योगपतियों में संघर्ष, प्रतिस्पर्धा और प्रतियोगिता न होती तो समाज का इतना विकास संभव नहीं था। वास्तव में, जहाँ कहीं समाज है, सामाजिक संघर्ष हैं, चाहे मनुष्य का मनुष्य के विरुद्ध हो, चाहे समाज का समाज के विरुद्ध हो स्वयं ही प्रकट हो जाता है तथापि सहयोग संघर्ष की अपेक्षा अधिक मात्रा में नहीं हो तो समाज टिक नहीं सकता। इस प्रकार स्पष्ट है कि समाज के विशाल प्रांगण या क्षेत्र में सहयोग तथा संघर्ष साथ-साथ विद्यमान है। चार्ल्स कूले के अनुसार, “यह प्रतीत होता है कि अन्य लोगों के साथ-साथ हमारे सम्बन्धों में सदैव संघर्ष तत्त्व का साथ-साथ रहना अनिवार्य है और वैसे ही परस्पर सहायता का भी, जीवन की समूची योजना उसकी अपेक्षा करती है, हमारा स्वयं मुख लक्षण उसे प्रतिबिम्बित करता है और प्रेम व कलह मनुष्य के मस्तक पर साथ-साथ जगह रखते हैं।”<sup>2</sup>

## 2.5 व्यक्ति, परिवार और समाज का सम्बन्ध

‘व्यक्ति’, परिवार का महत्त्वपूर्ण अंग है तथा परिवार समाज का। व्यक्ति व्यापक रूप में परिवार है। परिवार की व्यापकता समाज को रेखांकित करती है, समाज ही व्यापक-रूप में राष्ट्र का स्वरूप धारण करता है। दूसरे शब्दों में, व्यक्ति, परिवार और समाज का एक-दूसरे के बिना कोई अस्तित्व ही नहीं है। इनका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है।

1 कपूर, अनूपचन्द, राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त, प्रीमियम पब्लिशिंग कंपनी, नई दिल्ली, चतुर्थ संस्करण—सन् 1962, पृ० सं०—3

2 सहाय, कल्याण, समाजशास्त्र के सिद्धान्त, अर्चना पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली, सन्—2012, पृ० सं०—77

नया जन्मा शिशु, समाज के लिए सहायक तथा उसकी आशानुसार बनाई गयी एक संस्था परिवार में प्रवेश करता है। परिवार बालक को उसका एक भाग बनकर जीवित रहने के लिए, उसे स्थिर रखने के लिए तथा उसके द्वारा स्वयं स्थिर रहने के लिए शिक्षित करता है। हम सबसे पहले अपने निकट सम्बन्धियों के अधीन 'सामाजिक' बनते हैं। मनुष्य के समाजीकरण का सबसे पहला तथा प्रभावशाली कार्य-स्थान परिवार है।

व्यक्ति, परिवार और समाज में एक साथ अनेक भूमिकाएँ प्रस्तुत करता है। भूमिका-विशेष के अनुसार ही परिवार और समाज में उसे विभिन्न सम्बन्धों का उत्तरदायित्व वहन करता पड़ता है। व्यक्ति, पारिवारिक-सामाजिक प्राणी होने के कारण प्रारंभ से ही आत्म-केन्द्रित होता है। वह परिवार और समाज के साथ प्रायः अपने सम्बन्धों का संतुलन बनाये रखने का प्रयास करता है।

परिवार अपने भीतर जन्मित जीवों के लिए एक समष्टि समुदाय के रूप में अपनी सेवाएँ पहुँचाता है। वह व्यक्ति को विस्तृत सामाजिक जीवन हेतु तैयार करता है। व्यक्ति के सम्मुख सामाजिक संस्कृति की व्याख्या सर्वप्रथम परिवार ही प्रस्तुत करता है। 'व्यक्ति' भी परिवार में रहते हुए परिवार के दूसरे सदस्यों के प्रति एकता और उत्तरदायित्व की भावना अनुभव करता है। परिवार अपने सदस्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है तथा सदस्य परिवार के लिए परिश्रम करते हैं। मनुष्य की आवश्यकताएँ शारीरिक होती हैं, जिनकी अभिव्यक्ति सामाजिक क्षेत्र में होती है तथा वे मनुष्य के पथ-प्रदर्शन के लिए समाज द्वारा बनाए गये नियमों से नियंत्रित होती हैं। वे मनुष्य को कार्य करने तथा अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए बाध्य करती हैं। इसका परिणाम उसे सामाजिक सम्बन्धों, सामाजिक नियमों तथा सामाजिक संस्थाओं के द्वारा नियंत्रण की ओर ले जाता है।

समाज में परिव्याप्त छोटे या बड़े सभी संगठनों में परिवार से बढ़कर कोई संगठन नहीं है। परिवार असंख्य रीतियों में समाज के संपूर्ण जन-जीवन को प्रभावित करता है। उसके परिवर्तन समूची सामाजिक रचना के भीतर प्रतिध्वनित होते हैं। "सभी सामाजिक रूपों में प्रायः परिवार सबसे सार्वजनीन है। सामाजिक विकास की संपूर्ण अवस्थाओं में, सभी समाजों में यह विद्यमान है। प्रायः प्रत्येक

मानव किसी-न-किसी परिवार-संस्था का सदस्य रहा है। शिशु का परिवार में जन्म लेना ही उसके लिए परिवार की आवश्यकता का संकेत करता है। सामाजिक प्रक्रियाओं द्वारा मनुष्य के वंशानुक्रम का निर्धारण होता है और परिवार भी एक सामाजिक प्रक्रिया है। समाज संस्थाओं और रीति-रिवाजों की एक प्रणाली है तथा परिवार समाज के रीति-रिवाजों को स्थिर रखने तथा अपने प्रत्येक सदस्य को उनकी शिक्षा देने का प्रयत्न करता है।<sup>1</sup> व्यक्ति समाज का महत्त्वपूर्ण सदस्य है। परिवार तथा समाज के विकास हेतु उसका योगदान श्लाघनीय है। व्यक्ति चाहे सामाजिक है लेकिन मूल में एक व्यक्ति है। उसकी कुछ स्वतंत्र इच्छाएँ और वैयक्तिक आदर्श होते हैं जिनकी पूर्ति में बाधक भौतिक व सामाजिक कारणों को दूर करके उसने सभी युगों में अपनी हार्दिक इच्छाओं के निकटतर सामाजिक व्यवस्था को प्राप्त करने की निरन्तर चेष्टा की है।

मानव और समाज के मध्य जो सम्बन्ध है, उसे दो सिद्धान्तों द्वारा अभिव्यक्ति किया गया है— सामाजिक समझौते का सिद्धान्त एवं सामाजिक सावयव का सिद्धान्त। सामाजिक समझौते का सिद्धान्त व्यक्ति को सर्वोच्च स्थान प्रदान कर उसे समाज का जन्मदाता मानता है। सामाजिक सावयव का सिद्धान्त समाज को प्राथमिकता प्रदान कर व्यक्ति को गौण मानता है। परंतु अध्ययन से ज्ञात होता है कि दोनों सिद्धान्तों में अपूर्णता है। समाजशास्त्रीयों ने व्यक्ति और समाज को परस्पर अन्योन्याश्रित स्वीकार किया है। व्यक्ति का जीवन चाहे सामुदायिक जीवन के रूप में प्रकट न हो फिर भी वह सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति और पुष्टि करता है। क्योंकि व्यक्ति पूंजीभूत सामाजिक संस्कारों का एक बिंदु है।

परिवार समाज की संस्था है, समाज के अधीन है। विचारणीय यह है कि वह समाज का शत्रु भी है क्योंकि वह व्यक्ति को एक सीमित दायरे में बाँध कर रखता है। “पारिवारिक मोह सामूहिक कल्याण के मार्ग में बाधक है और मनुष्य को स्वार्थी बनाता है। वैसे तो व्यक्ति परिवार में भी अपना एक अलग व्यक्तित्व रखता है। व्यक्ति होते हुए उसका एक निजी जीवन होता है जिसमें परिवार का हस्तक्षेप भी

1 मेकाइवर एण्ड पेज चार्ल्स एच० (मूल लेखक), विश्वेश्वरय्या जी० (अनुवादक), समाज : एक परिचयात्मक विश्लेषण, रतन प्रकाशन मंदिर, आगरा, सन्-1964, पृ० सं०-28

उसे असहनीय नहीं होता। यदि परिवार अपने आप में ब्रह्माण्ड है तो व्यक्ति भी अपने आप में एक ब्रह्माण्ड है। परिवार का सदस्य होते हुए भी वह समाज के प्रतिनिधि परिवार से कुछ सीमा तक पृथक् होता है।<sup>1</sup> यद्यपि व्यक्ति, परिवार और समाज एक-दूसरे के पूरक हैं, इनमें से किसी एक में परिवर्तन अन्य दोनों को अवश्य ही प्रभावित करता है, तथापि इनका परस्पर सम्बन्ध अत्यंत जटिल है। वर्तमान युग में वैयक्तिक चेतना और व्यक्तिगत स्वतंत्रता की धारणा का असीमित प्रसार हो गया है। व्यक्तिवाद की भावना के कारण परंपरागत समाज-व्यवस्था के मूल्य निरर्थक प्रतीत होने लगे हैं। आज मनुष्य प्राचीन परंपरागत मूल्यों के स्थान पर नवीन मूल्यों को आत्मसात् करने लगा है, पारिवारिक एवं सामाजिक स्तर पर अपनी स्वतंत्रता को सीमित करने वाले नियमों एवं बंधनों से मुक्ति का प्रयास कर रहा है। परंतु परिवार तथा समाज उस पर अपना दबाव अधिकाधिक बढ़ाने के लिए प्रयासरत हैं। परिणामतः व्यक्ति, परिवार तथा समाज का संघर्ष दिखाई देने लगा है, जिसकी अभिव्यक्ति समाज में समय-समय पर होती रहती है। तथापि परिस्थितियाँ कैसी भी हों व्यक्ति, परिवार एवं समाज परस्पर एक-दूसरे की अनिवार्यता को स्वीकार करते हैं, वे एक-दूसरे के अस्तित्व को नकारने की चेष्टा नहीं कर सकते।

## 2.6 सामाजिक सरोकार के महत्त्वपूर्ण घटक

सामाजिक सरोकार का अध्ययन करने के पश्चात् इसके घटकों को समझना आवश्यक है। अतः सामाजिक सरोकार के महत्त्वपूर्ण घटक निम्नलिखित हैं—

- पारिवारिक आधार
- सामाजिक व्यवस्था
- सांस्कृतिक प्रतिमान
- सामाजिक परिवर्तन बनाम स्त्री की बदलती रूढ़ छवि

### 2.6.1 पारिवारिक आधार

परिवार सार्वकालिक संस्था है। यह भारतीय सामाजिक जीवन का केंद्र है। 'हरिदत्त वेदालंकार' ने अपनी पुस्तक 'भारतीय परिवार मीमांसा' में लिखा है, "पुरुष

1 प्रभा, शशि, प्रेमचन्दोत्तर हिन्दी कहानी में व्यक्ति, परिवार और समाज, विक्रांत प्रेस, दिल्ली, सन्-1985, पृ०सं० 29-30

अकेला नहीं रह सकता और दूसरे की चाह के कारण परिवार की नींव रखता है।<sup>1</sup> परिवार प्रत्येक मानव-समाज में विद्यमान रहा है। समाज की किसी भी ऐसी अवस्था, जिसमें लिंग-सम्बन्धों के ऊपर किसी सीमा तक सामाजिक नियमों के बंधन न हों और जिसमें किसी भी रूप में परिवार का अस्तित्व न हो, ऐसी कल्पना करना भी दुरुह है। समिति तथा संस्था के रूप में समाज की निरंतरता तथा स्थापत्य को बनाये रखने में 'परिवार' की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इस पर प्रत्येक समाज का अस्तित्व निर्भर करता है। "भारतीय समाज की संरचना में परिवार एक महत्वपूर्ण सामाजिक इकाई है जो एक औपचारिक सामाजिक संस्था की भांति कार्य करता है।"<sup>2</sup> यह एक छोटा-सा सामाजिक समूह है।

मानव का इतिहास परिवार का इतिहास है, क्योंकि मानव-जीवन के प्रारंभ से परिवार उसके साथ रहा है तथा किसी न किसी रूप में यह सांस्कृतिक विकास के सभी स्तरों पर पाया जाता है। चार्ल्स कूले का परिवार के विषय में मानना है, "एक प्राथमिक समूह है और इस प्राथमिक समूह में ही बच्चे के सामाजिक जीवन व आदर्शों का निर्माण होता है। वास्तव में परिवार मानव-स्वभाव का सबसे महत्वपूर्ण क्षेत्र (Nursery) है।"<sup>3</sup> परिवार अन्य समूह की अपेक्षा अपनी सामूहिक स्थिति के कारण बालक की आदतों, अभिवृत्तियों एवं उसके सामाजिक अनुभवों पर घनिष्ठ एवं महत्वपूर्ण प्रभाव डालता है। यह व्यक्तित्व निर्माण में सर्वप्रमुख भूमिका निभाता है। सामाजिक संरचना में इसका मूल स्थान है। पंचानन मिश्र के अनुसार, "परिवार सामाजिक जीवन का मेरुदण्ड रहा है। समाज की संपूर्ण भावनाएँ, संपूर्ण लोकाचार, संपूर्ण जीवन विधि और आचार परिवार के द्वारा व्यक्ति की आत्मा में प्रविष्ट होकर घुलते मिलते हैं। परिवार वह दर्पण है, जो समाज का प्रकाश ग्रहण कर व्यक्ति की आँखें विक्षुरित करता रहता है।"<sup>4</sup> परिवार व्यक्ति और समाज के मध्य सेतु है। परिवार द्वारा ही व्यक्ति और समाज को समझा जा सकता है। व्यष्टि और समष्टि

1 वेदालंकार, हरिदत्त, हिन्दू परिवार मीमांसा, बंगाल हिन्दी मण्डल, कलकत्ता, 2011 विक्रम संवत्, पृ०सं० 12-13

2 रुहेला, सत्यपाल, भारतीय समाज संरचना और परिवर्तन, उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, लखनऊ, सन्-1973, पृ० सं०-222

3 मुकर्जी, रवीन्द्रनाथ, भारतीय सामाजिक संस्थाएँ, सरस्वती सदन, दिल्ली, सन्-1975, पृ० सं०-283

4 मिश्र, पंचानन, परिवार : एक सामाजिक अध्ययन, ज्ञानपीठ प्रकाशन, पटना, सन्-1957, पृ० सं०-1

के हित में निर्मित सभी संस्थाओं में परिवार का अन्यतम स्थान है। परिवार के महत्त्व के सम्बन्ध में श्रीमती बोसांके का मत उल्लेखनीय है, “यदि संसार में परिवार नहीं होता और उसके बिना यह संसार चलता भी रह सकता, तो भी वह परिवार से प्राप्त होने वाली विशेषताओं का अभाव न सह सकता था। जैसे भी, यह धूमिल संसार है, इसकी कोई भी प्रतिच्छाया या अनुभूति की रेखा परिवार की महत्ता और उसके वैभव को नष्ट नहीं कर सकती है। इसी तरह यदि प्रेम, सौन्दर्य और प्रकाश के पुंज परिवार को इसलिए ही अस्वीकार किया जाता है कि वह कभी-कभी असफल रहता है तो इस तरह से आकाश से सूर्य समाप्त करना होगा, जो कभी-कभी बादलों से ढक जाता है।”<sup>1</sup>

परिवार-संस्था को सुदृढ़ एवं सशक्त बनाने में अनेक आधार उत्तरदायी हैं, जिनका उल्लेख निम्न प्रकार से किया गया है—

#### 2.6.1.1 संयुक्त परिवार

भारतीय पारिवारिक संस्था का प्रमुख आधार—‘संयुक्त परिवार’ है। यह भारतीय मनोवृत्ति, जो समष्टि की ओर झुकी हुई है, उसका द्योतक है। “संयुक्त परिवार से हमारा अभिप्राय उस परिवार से होता है जिसमें कई पीढ़ियों के सदस्य एक-दूसरे के प्रति पारस्परिक कर्तव्यपरायणता के बंधन में बंधे रहते हैं।”<sup>2</sup> संयुक्त परिवार में कई पीढ़ियों के सदस्य रहते हैं। “न केवल माता-पिता तथा संतानें, भाई तथा सौतेले भाई सामान्य सम्पत्ति पर रहते हैं, बल्कि कभी-कभी इसमें कई पीढ़ियों तक की संतानें, पूर्वज तथा सामानान्तर सम्बन्धी भी सम्मिलित रहते हैं।”<sup>3</sup> इरावती कार्वे के अनुसार, “एक संयुक्त परिवार उन व्यक्तियों का एक समूह है जो साधारणतया एक मकान में रहते हैं, जो एक रसोई में पका भोजन करते हैं, जो सामान्य सम्पत्ति के स्वामी होते हैं, और जो सामान्य उपासना में भाग लेते हैं तथा जो किसी न किसी प्रकार एक-दूसरे के रक्त सम्बन्धी हैं।”<sup>4</sup> संयुक्त परिवार में

1 अरोड़ा, ज्ञानवती, समसामयिक हिन्दी कहानी में बदलते पारिवारिक सम्बन्ध, सूर्य प्रकाशन, दिल्ली, सन्-1989, पृ० सं०-97

2 तोमर, रामबिहारी सिंह, समाजशास्त्र की रूपरेखा, श्रीराम मेहरा एण्ड कंपनी, आगरा, सन्-1970, पृ० सं०-676

3 यथावत्, पृ० सं०-676

4 मुकर्जी, रवीन्द्रनाथ, भारतीय सामाजिक संस्थाएँ, सरस्वती सदन, दिल्ली, सन्-1975, पृ० सं०-293

व्यक्ति एक साथ रहते ही नहीं, बल्कि उनके समस्त क्रिया-कलाप परिवार के अन्य सदस्यों के समान अनुशासित एवं दायित्वपूर्ण होते हैं। सदस्य परस्पर सहयोग एवं प्रेमपूर्वक जीवन-यापन को महत्त्व देते हैं। विवाह, मृत्यु, सुख-दुःख के सभी सदस्य समान भागीदार होते हैं। आरम्भ से ही, “संयुक्त परिवार में श्रम का विभाजन किया जाता था, समान रूप से दायित्व-वहन, समान विभाजन, अधिकार-प्रदर्शन भी होता था। प्रभुत्व और आज्ञापालन, दोनों की स्पष्ट अभिव्यक्ति होती थी।”<sup>1</sup> व्यक्ति का सामाजिक परिचय भी उसका ‘कुल’ या संयुक्त परिवार ही हुआ करता था। हरिदत्त वेदालंकार ने संयुक्त परिवार के विषय में स्वीकारा है, “जो निवास, भोजन, धर्म, कर्म और आर्थिक दृष्टि से संयुक्त होता है। माता-पिता, उनके पुत्र, पुत्र-वधुएँ, भाभियाँ-भाई एक ही घर में रहते हैं, उनके यज्ञ, श्राद्ध, धर्म, कर्म एक साथ किये जाते हैं। सम्पत्ति का स्वामित्व और उपभोग सम्मिलित रूप से होता है।”<sup>2</sup> संयुक्त परिवार के निवासी सम्मिलित सम्पत्ति से लाभ उठाते हैं तथा उनका पालन-पोषण एवं अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति होती रहती है। सम्पत्ति के बँटवारे का अर्थ ही संयुक्त परिवार का विघटन है। सम्मिलित सम्पत्ति संयुक्त परिवार के संगठन की जड़ को सुदृढ़ करती है। संयुक्त परिवार एक परस्पर सम्बद्ध व्यक्तियों का समूह है, जिसकी सम्पत्ति भी एक है। इसलिए इस परिवार का प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार कमाई करता है और आवश्यकतानुसार प्राप्त भी करता है, इस प्रकार से काफी हद तक समाजवाद के आदर्श की भी स्थापना इससे हो जाती है।

संयुक्त परिवार भारतीय सामाजिक जीवन की एक विशेषता है। इसकी संरचना में संस्कारों को प्राथमिकता दी गयी है। संस्कार पारिवारिक सदस्यों को परस्पर बाँधने का कार्य करते हैं। संयुक्त परिवार में अनुशासन को महत्त्वपूर्ण माना गया है। वयोवृद्ध व्यक्ति परिवार पर पूर्ण नियंत्रण रखता है। सभी छोटे सदस्य बड़े व्यक्तियों को आदर एवं सम्मान प्रदान करते हैं। यह रीति प्राचीन काल में भी विद्यमान थी। के० एम० कपाड़िया के कथनानुसार, “परिवार के मुखिया का कनिष्ठ

1 अरोड़ा, ज्ञानवती, समसामयिक हिन्दी कहानी में बदलते पारिवारिक सम्बन्ध, सूर्य-प्रकाशन, दिल्ली, सन्-1989, पृ० सं०-83

2 वेदालंकार, हरिदत्त, हिन्दू परिवार मीमांसा, बंगाल हिन्दी मण्डल, कलकत्ता, 2011 विक्रम संवत्, पृ० सं०-23

सदस्यों पर परंपरागत अधिकार इतना भय उत्पन्न करने वाला था कि कनिष्ठ व्यक्ति अपने मतभेद को व्यक्त करने के बारे में सोच भी नहीं सकते थे, भले ही उनका कितना ही दृढ़ विश्वास हो।<sup>1</sup> संयुक्त परिवार में मुखिया को छोड़कर किसी भी अन्य सदस्य को विशेषाधिकार प्राप्त नहीं होते।

प्रत्येक के लिए सब और सबके लिए प्रत्येक की धारणा ही संयुक्त परिवार का आदर्श तत्त्व है। संयुक्त परिवार भारतीय सामाजिक संगठन की आधारभूत इकाई के रूप में भारतीय जीवन को संगठित करने में योगदान देता रहा है परंतु आज अनेक कारणों से संयुक्त परिवार बिखर रहे हैं, टूट रहे हैं। स्वतंत्रता के पश्चात् संयुक्त परिवार प्रथा धीरे-धीरे टूटती जा रही है तथा परिवार अब अलग इकाई के रूप में बँट रहे हैं। सम्बन्धों के परिवर्तन ने आज व्यक्ति को आत्मकेन्द्रित बना दिया है। परिवार के आपसी रिश्तों में अलगाव, घुटन, ईर्ष्या आदि उत्पन्न हो रहे हैं। यह दशा न केवल शहरों में है, अपितु गाँव भी इससे प्रभावित हुए हैं। गाँवों में भी परंपरागत संयुक्त परिवार प्रथा बिखरने लगी है। आज समाज एकल परिवारों को अपना रहा है। एकल परिवार, परिवार का लघु रूप है। इसमें पति-पत्नी तथा उनके अविवाहित बच्चे होते हैं। हैरिस का मत है, “यह उन व्यक्तियों का समूह है जो जैविकीय भूमिका निभाने के अतिरिक्त एक-दूसरे के प्रति संस्थागत सामाजिक दायित्वों को पूरा करते हैं तथा ऐसा करने के साथ ही उन विश्वासों और मूल्यों का पालन करते हैं जिनकी उनसे परिवार के अन्तर्गत करने की आशा की जाती है।”<sup>2</sup> लीवी के अनुसार, “केन्द्रक परिवार में प्रत्येक स्थान पर पति, पत्नी तथा अपरिपक्व आयु के बच्चे समुदाय के विशेष व्यक्तियों से अलग एक इकाई का निर्माण करते हैं।”<sup>3</sup> आई० पी० देसाई एकल परिवार को इन शब्दों में परिभाषित करते हैं, “एक एकाकी परिवार वह परिवार है, जिसके सदस्य अपने अन्य कुनबियों द्वारा आशा

---

1 उद्धृत, गुप्ता, बीना रानी (डॉ०), मन्डू भंडारी का कथा साहित्य : पारिवारिक जीवन की समस्याएँ, संभावना प्रकाशन, हापुड़, द्वितीय संस्करण- सन् 2010, पृ० सं०-19

2 श्रीवास्तव, विनोद, समाजशास्त्र, रजत प्रकाशन, नई दिल्ली, सन्-2011, पृ० सं०-25

3 शर्मा, एस० एस०, भारतीय सामाजिक संस्थाएँ, सरूप एण्ड सन्स, मेरठ, सन्-1981, पृ० सं०-90

किए हुए संपत्ति या आय के अधिकारों और कर्तव्यों के सम्बन्धों से बंधे हुए न हों।<sup>1</sup> एकाकी परिवार की सदस्य संख्या सीमित होती है।

मनुष्य आजीविका हेतु गाँवों से शहरों की ओर पलायन कर रहा है। उचित शिक्षा और व्यक्तित्व के संपूर्ण विकास के लिए भी एकल परिवारों का महत्त्व बढ़ रहा है। एकाकी परिवार आर्थिक दृष्टिकोण से भी महत्त्वपूर्ण होते हैं। इस परिवार का प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने कार्यों में लगा रहता है, क्योंकि उसे मालूम है कि उसकी सामाजिक स्थिति उसके अर्जित गुणों पर आधारित होगी। एकल परिवार का विकास आधुनिक समाज में तीव्रता से हो रहा है।

संयुक्त परिवार का विघटन और एकल परिवार का उद्भव, ये दोनों बातें परस्पर सम्बद्ध हैं। राजेन्द्र यादव के अनुसार, “परिवार का अर्थ संयुक्त परिवार से होता है। यह परिवार मूलतः एक ऐसा संगठन है, जिसमें सारी चीजें घर के बड़े के अनुशासन में चलती हैं, ..... लेकिन यह छोटी इकाई ही बड़ी इकाई से टूटकर बनती है। मुझे लगता है कि ‘टूटन’ या ‘विघटन’ की प्रक्रिया, निरन्तर उन संयुक्त परिवारों से चलकर व्यक्तिगत परिवार— फिर व्यक्तित्व पर आती है।”<sup>2</sup>

### 2.6.1.2 विवाह

‘विवाह’ के द्वारा परिवार की नींव रखी जाती है। विवाह और परिवार एक-दूसरे के पूरक हैं। पारिवारिक संस्थापन के उद्देश्य से ही विवाह संस्था निर्मित की गई है। स्त्री-पुरुष के वैवाहिक सम्बन्ध से ही परिवार का जन्म होता है। “विवाह जीवन की शारीरिक तथा भावात्मक आवश्यकता है। यह एक सामाजिक संस्था है, जिसके द्वारा परिवार का विकास होता है। स्त्री-पुरुष के स्वाभाविक और सहज आकर्षण को संयमित और मर्यादित करने की रीति ही विवाह है।”<sup>3</sup> विवाह से ही परिवार का विकास होता है। “विवाह वह सार तत्त्व है जिसे हर व्यक्ति गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिए ग्रहण करता है।”<sup>4</sup>

- 
- 1 अवस्थी, कमलेश, परंपरा और आधुनिकीकरण, स्वराज प्रकाशन, नई दिल्ली, सन्-2006, पृ० सं०-96
  - 2 उद्धृत, गुप्ता, बीना रानी (डॉ०), मन्नू भंडारी का कथा साहित्य : पारिवारिक जीवन की समस्याएँ, संभावना प्रकाशन, हापुड, द्वितीय संस्करण- सन् 2010, पृ० सं०-41
  - 3 सूद, नीरजा, समाज-मनोविज्ञान के संदर्भ में जैनेन्द्र का कथा-साहित्य, सूर्य-प्रकाशन, दिल्ली, सन्-1988, पृ० सं०-109
  - 4 भटनागर, उर्मिला, हिन्दी उपन्यासों में दाम्पत्य-चित्रण, अर्चना प्रकाशन, जयपुर, सन्-1991, पृ० सं०-1

अंग्रेजी शब्द 'Matrimony' हिन्दी के शब्द 'विवाह' का पर्याय है। पाश्चात्य विद्वान लॉवी ने 'विवाह' को पारिभाषित करते हुए लिखा है, "विवाह उन स्पष्टतः स्वीकृत संगठनों को प्रकट करता है, जो लिंग-सम्बन्धी संतुष्टि के उपरांत भी स्थिर रहता है तथा पारिवारिक जीवन की आधारशिला बना है।"<sup>1</sup> गिलिन तथा गिलिन के अनुसार, "विवाह एक प्रजननमूलक परिवार के संस्थापन की समाज द्वारा स्वीकृत विधि है।"<sup>2</sup> ई० ओ० जेम्स के कथनानुसार, "विवाह मानव-समाज में सार्वभौमिक रूप से पायी जाने वाली संस्था है, जो यौन-सम्बन्ध, गृह-प्रबंध, प्रेम तथा मानव स्तर पर व्यक्तित्व के जैविकीय, मनोवैज्ञानिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास की आवश्यकताओं को पूरा करती है।"<sup>3</sup> मजूमदार और मदन ने विवाह का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है, "विवाह संस्था का सम्बन्ध एक विशेष सामाजिक स्वीकृति से है जो साधारणतया कानूनी अथवा धार्मिक संस्कार के रूप में होती है और जो दो विषम लिंग के व्यक्तियों ने यौनिक सम्बन्धों को स्थापित करने और उनसे सम्बन्धित सामाजिक तथा आर्थिक सम्बन्धों का उन्हें अधिकार देती है।"<sup>4</sup> विद्वानों एवं विचारकों द्वारा 'विवाह' सम्बन्धी दी गयी परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि विवाह का सीधा सम्बन्ध समाज एवं परिवार से है। व्यक्ति ने यह संस्था समाज से प्राप्त की है। समाज द्वारा यह संस्था निश्चित की गई है तथा इसमें प्रवेश पाकर ही स्त्री-पुरुष एक साथ रह सकते हैं। बोगार्डस के मतानुसार, "विवाह स्त्री और पुरुष को पारिवारिक जीवन में प्रवेश करवाने की एक संस्था है।"<sup>5</sup>

विवाह एक जैविकीय समझौता है जो सृष्टि क्रम में आगे बढ़ने का साधन है। सभी समाजों में विवाह का प्राथमिक उद्देश्य परिवार का निर्माण करना है। "विवाह प्रत्येक समाज, चाहे वह आदिम समाज हो या सभ्य समाज, की संस्कृति का एक आवश्यक अंग होता है क्योंकि यह वह साधन है जिसके आधार पर समाज की

- 
- 1 तोमर, रामबिहारी सिंह, समाजशास्त्र की रूपरेखा, श्रीराम मेहरा एण्ड कम्पनी, आगरा, सन्- 1970, पृ० सं०-618
  - 2 स्वर्णलता (डॉ०), स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास साहित्य की समाजशास्त्रीय पृष्ठभूमि, विवेक पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, सन्-1975, पृ० सं०-139
  - 3 त्रिपाठी, शंभूरत्न, समाजशास्त्र के मूलाधार, किताबघर प्रकाशन, कानपुर, सन्-1975, पृ० सं०-351
  - 4 अग्रवाल, गोपाल कृष्ण, समाजशास्त्र, साहित्य भवन, आगरा, सन्-1980, पृ० सं०-506
  - 5 मुकर्जी, रवीन्द्रनाथ, भारतीय सामाजिक संस्थाएँ, सरस्वती सदन, दिल्ली, सन्-1975, पृ० सं०-332

प्रारम्भिक इकाई, परिवार का निर्माण होता है।<sup>1</sup> विवाह का सर्वप्रमुख उद्देश्य स्त्री और पुरुष के यौन-सम्बन्धों को नियमित करना तथा संतानोत्पत्ति के सामाजिक कार्य में योगदान देना है। मनुष्य यदि अनियमित और अराजक ढंग से यौन-संतुष्टि करने लगे तो सामाजिक संघर्षों का अनुपात बढ़ जाएगा। अनैतिक सम्बन्धों की वृद्धि से सामाजिक संगठन कमजोर पड़ जाएगा। विवाह संस्था इस समस्या से व्यक्ति और समाज की रक्षा करती है। उसके नियमानुसार व्यक्ति को यौन-सम्बन्ध स्थापित करने का अधिकार प्रदान किया गया है।

विवाह एक सामाजिक स्थायी सम्बन्ध है, जिसके अन्तर्गत एक स्त्री और पुरुष अपनी प्रतिष्ठा को सुरक्षित रखते हुए संतान उत्पन्न करने के लिए सामाजिक स्वीकृति प्राप्त करते हैं। व्यक्ति अपने बच्चों में अपनी आशाओं को फलीभूत होते देखना चाहता है। उसकी अनेक आकांक्षाएँ और अभिलाषाएँ संतान से पूर्ण होती हैं। संतान द्वारा वंश-रक्षा ही नहीं बल्कि वंश की परंपरा या सांस्कृतिक प्रतिमान भी हमेशा बने रहते हैं।

विवाह के द्वारा परिवार बनता है तथा व्यक्ति को अपने आदर्शों और मूल्यों को व्यावहारिक बनाने में सहयोग मिलता है। पारिवारिक दायित्वों के निर्वाह से उसमें नैतिक गुणों का विकास होता है। पारस्परिक त्याग, प्रेम और भाईचारे की भावना एवं सामाजिक कल्याण आदि ऐसे अनेक गुण हैं जो विवाह संस्था के माध्यम से विकसित होते हैं। विवाह द्वारा सांस्कृतिक विशेषताओं को स्थिर बनाये रखा जा सकता है।

प्रत्येक समाज में विवाह किसी न किसी प्रकार से कुछ धार्मिक अथवा आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति अवश्य करता है। एक ओर विवाह व्यक्ति को कुछ विशेष आर्थिक अधिकार और सम्पत्ति की देखभाल का दायित्व सौंपता है, दूसरी ओर परंपरा पर आधारित अनेक समाजों में विवाह धार्मिक उद्देश्यों की पूर्ति करता है। हिन्दू-विवाह एक धार्मिक संस्कार है, वैधानिक या सामाजिक समझौता नहीं। इसे धार्मिक संस्कार इसलिए कहा जाता है क्योंकि हिन्दू-विवाह की पूर्णता के लिए कुछ धार्मिक कृत्य, जैसे-होम, पाणिग्रहण और सप्तपदी आदि आवश्यक हैं। हिन्दू

1 मुकर्जी, रवीन्द्रनाथ, भारतीय सामाजिक संस्थाएँ, सरस्वती सदन, दिल्ली, सन्-1975, पृ०सं०-331

विवाह में यह धारणा है कि विवाह दो आत्माओं का मिलन ही नहीं, अपितु सांस्कृतिक विधि है। श्रीमती एनी बेसेन्ट के शब्दों में, “वैवाहिक जीवन का वह आदर्श रूप जो कभी विश्व को प्रदान किया गया, हिन्दू धर्म में उपलब्ध है जिसमें पति एवं पत्नी भैतिक सुख की अपेक्षा आध्यात्मिक मिलन प्राप्त करते हैं, वैवाहिक सम्बन्ध में संलग्न होते हैं जिससे कि वे आध्यात्मिक उन्नति एवं विकास प्राप्त कर सकें।”<sup>1</sup> एक-विवाह को ही हिन्दुओं में आदर्श माना गया है। स्त्री-पुरुष द्वारा जीवन-पर्यन्त एक-दूसरे से बने रहने की प्रतिबद्धता ही विवाह-संस्था का पवित्र-भाव है।

आज समाज में मुख्य रूप से परंपरागत एवं प्रेम विवाह का स्वरूप ही प्रचलित है। वास्तव में, विवाह परिवार की आधारशिला है। सभ्य समाज में कोई भी ऐसा देश नहीं, जहाँ किसी-न-किसी रूप में विवाह का चलन न हो। “भारत जैसे विकासशील देश के लिए तो इसकी आवश्यकता और उपयोगिता है ही, स्वीडन जैसे अपेक्षाकृत मुक्त काम-सम्बन्धों वाले देश में भी विवाह की प्रथा पूर्णतः समाप्त नहीं हो पाई है। और अमेरिका में तो यह अब पता लगा है कि लोग पुराने ढंग के विवाहों की ओर तेजी से लौट रहे हैं।”<sup>2</sup>

विवाह एक प्राचीन संस्था है। समाज में परिवार के अस्तित्व हेतु विवाह को एक अनिवार्य संस्था के रूप में स्वीकार किया गया है। जैसा कि मैकेंजी का मत है कि, “परिवार के प्रारंभिक आधार के सर्वोच्च महत्त्व के कारण ही विवाह की संस्थापना को पवित्रता और स्थायित्व प्रदान करते हैं। इस प्रकार के स्थायित्व को धर्म अथवा सरकार द्वारा निश्चित किया जा सकता है।”<sup>3</sup> विवाह समूचे सामाजिक जीवन की धुरी है। उसी धुरी पर पारिवारिक जीवन आश्रित है। काम्ट के अनुसार, “विवाह न केवल सार्वभौम प्राकृतिक प्रवृत्ति है, अपितु एक सार्वभौम आवश्यकता भी। विवाह मनुष्य में अनेक सद्गुणों का विकास करता है और उसमें सर्वप्रमुख यह है कि विवाह पश्चात् पति-पत्नी दोनों में ही एक-दूसरे के प्रति प्रेम-भाव के कारण

1 भटनागर, उर्मिला, हिन्दी उपन्यासों में दाम्पत्य-चित्रण, अर्चना प्रकाशन, जयपुर, सन्-1991, पृ० सं०-3

2 अग्रवाल, साधना (डॉ०), वर्तमान हिन्दी महिला कथा लेखन और दाम्पत्य-जीवन, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सन्-1995, पृ० सं०-14

3 प्रसाद, महादेव, समाज-दर्शन, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सन्-1968, पृ० सं०-190

आत्म-त्याग की भावना विकसित होती है। वे अपनी स्वार्थवृत्ति को छोड़कर सम्पूर्ण परिवार के हित का ध्यान रखते हुए कार्य करते हैं। इस प्रकार विवाह परमार्थवाद को आत्मवाद पर विजय प्राप्त कर लेने में सहायता करता है। यही सामाजिक व्यवस्था या प्रगति का प्रथम आवश्यक तत्त्व है।<sup>1</sup> काम्ट की यह भी धारणा है कि विवाह के गुणों से परिचित हो जाने पर समाज के अधिकतर सदस्य विवाह-सम्बन्ध को स्वेच्छा से धारण करेंगे। विवाह मानव-जीवन के उच्चतम लक्ष्यों की प्राप्ति में सहायता करता है।

सारांशतः कहा जा सकता है कि विवाह का एकमात्र उद्देश्य यौन संतुष्टि ही नहीं है बल्कि इसके व्यापक सामाजिक सरोकार भी हैं।

### 2.6.1.3 दाम्पत्य सम्बन्ध

स्त्री-पुरुष तत्त्व का सम्मिलन ही सृष्टि का उन्मेष है। सृष्टि का सर्वोत्तम, समुन्नत विकास मानव-सभ्यता में परिलक्षित होता है। आदि मानव से आधुनिक समाज-व्यवस्था तक विविध सामाजिक, बौद्धिक, सांस्कृतिक विचारधारा निरंतर विकासमान रही है। इसमें सबसे निर्णायक एवं महत्त्वपूर्ण भूमिका पति और पत्नी के रूप में पुरुष एवं स्त्री की रही है। पुरुष -स्त्री का दाम्पत्य-भाव विवाह और परिवार का मूलाधार रहा है। मानव-सभ्यता के विकास के साथ-साथ यह सम्बन्ध मानव-जीवन में अपनी विशिष्ट स्थिति और प्रभाव व्यक्त करता रहा।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'दम्पती' का भाव ही 'दाम्पत्य' है अर्थात् 'विवाहित पति-पत्नी का युगल'। स्त्री-पुरुष जब विशिष्ट आयु में प्रवेश कर, शारीरिक दृष्टि से परिपूर्ण एवं शक्ति सम्पन्न हो जाते हैं तब विवाह-वेदी पर आरूढ़ होकर एक सूत्र में बँधकर दाम्पत्य का श्रीगणेश करते हैं। पति-पत्नी का यह सम्बन्ध भारतीय धर्म तथा संस्कृति में पवित्र तथा ब्रह्म जीव-सम्बन्ध के समकक्ष माना गया है। दाम्पत्य को परिवार का हेतु माना गया है। नारी और पुरुष के पारस्परिक आकर्षण ने साहचर्य की भावना को जन्म दिया। दाम्पत्य वह सामाजिक संस्था है जो पुरुष और स्त्री की कतिपय आधारभूत शारीरिक, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक

1 उद्धृत, सूद, नीरजा, समाज-मनोविज्ञान के संदर्भ में जैनेन्द्र का कथा-साहित्य, सूर्य-प्रकाशन, दिल्ली, सन्-1988, पृ० सं०-110

आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अस्तित्व में आई है। परिवार में दाम्पत्य सम्बन्ध को जितना महत्त्व दिया गया है, उतना अन्य किसी सम्बन्ध को नहीं। पति और पत्नी दाम्पत्य के अविभाज्य अंग हैं। भारतीय समाज में नारी जब पुरुष के साथ विवाह बंधन में बँधकर उसके गृह में प्रवेशकर नव-दाम्पत्य का सृजन करती है तब उसका अपना उपनाम, गोत्र बदल जाता है। परिवार में पति-पत्नी के सम्बन्धों के अतिरिक्त वह अनेक सम्बन्धों को जीने लग जाती है। वासुदेवशरण अग्रवाल के मतानुसार, “अनेक कुटुम्बों से स्त्रियाँ अपना-अपना व्यक्तित्व लाती हैं और अनेक पृथक् जल कुटुम्ब के सम्मिलित सरोवर में मिल जाती हैं। उस नये कुटुम्ब का जिसमें वे मिलती हैं जितना विस्तार हो, जो उसकी शक्ति हो, जो उसका वैभव हो, उसके सब क्षेत्रों में, सब स्तरों पर स्त्री को चाहे जितने अधिकार दीजिए और उसके कर्तव्यों को भी वैसे ही प्रभावशाली और व्यापक बनाइये जैसे पुरुषों के। इसमें कुछ आपत्ति न होनी चाहिए। यह तो हिन्दू परिवार के सनातन-विधान के अनुकूल ही होगा।”<sup>1</sup> भारतीय समाज में वैवाहिक सम्बन्धों को मान्यता दी गई है जबकि पाश्चात्य दाम्पत्य-जीवन में पति-पत्नी एक-दूसरे से स्वच्छंद रूप से विवाह-पूर्व या विवाहेतर यौन-सम्बन्धों को स्वीकारने में झिझकते नहीं हैं। पाश्चात्य देशों में यौन-सम्बन्धों का रूप मुक्त है।

दाम्पत्य नियमों के अन्तर्गत पत्नी का प्रमुख कर्तव्य पति-सेवा तथा पति व्रत की रक्षा करना है। भारतीय परिवार में पत्नी ने अपनी सत्ता को पति की सत्ता में पूर्णतः विलीन कर दाम्पत्य के आदर्श को स्थापित किया है। परिवार में सदैव पुरुष का ही वर्चस्व रहा है परंतु यह भी सत्य है कि पति के बिना पत्नी निराश्रित एवं अपूर्ण है और पत्नी के बिना पति एकाकी। इसीलिए दाम्पत्य जीवन को महत्ता प्रदान की गई है। “नव विवाहित दम्पती की यह चाहना रहती है कि वे एक-दूसरे के साथ पूर्णरूप से मिलजुल कर रहें, सदैव विरोध को हटाते हुए एक-दूसरे को प्रसन्नवदन रखें और मिलकर ईश्वर से यह प्रार्थना करें कि वह उन्हें ये आशीर्वाद दें

1 वेदालंकार, हरिदत्त, हिन्दू परिवार मीमांसा, बंगाल हिन्दी मण्डल, कलकत्ता, 2011 विक्रम संवत्, पृ० सं०-31

कि उनके मन और शरीर पूर्णतया एक-दूसरे में आत्मसात् रहें।<sup>1</sup> दाम्पत्य बंधन समाज से अधिक मन का बंधन है। पति-पत्नी अविभक्त आत्मा के रूप में पूरक हों, वही दाम्पत्य जीवन की सफलता है।

परिवार संस्था का मूल आधार यौन-भावना तथा मातृ-पितृ भावना भी है। इन्हीं दो भावनाओं के आश्रय संपूर्ण परिवार-संस्था की सृष्टि हुई है। दम्पती की यौन, प्रेम और प्रजनन प्रक्रिया ही समाज एवं परिवार को सशक्त बनाती है। श्रीमती कमल सिंधवी के शब्दों में, “विवाह के सामाजिक पहलू की जड़ें मनुष्य की दैहिक और मानसिक अपेक्षाओं की भूमि में गहरी उतरी हैं। विवाह मनुष्य की अन्तरंग, भावात्मक और दैहिक जरूरतों को पूरा करने की विधि है तो समाज के यंत्र को संचालित करने का एक अनिवार्य उपकरण भी है। विवाह और परिवार के संस्थान जुड़े हुए हैं। चाहे परिवार का स्वरूप व्यक्तिगत हो या आणविक हो, चाहे संयुक्त हो। परिवार सामाजिक प्रबंध की एक समुचित इकाई है। आधुनिक व्यवस्था में परिवार की इकाई संयुक्त या सामूहिक न होकर दम्पती केन्द्रित है।<sup>2</sup> यह दम्पती केन्द्रित परिवार ही समाज का मुख्य भाग है। परिवार की नैतिकता ही सामाजिक नैतिकता का नियमन करती है।

प्रत्येक समाज में दाम्पत्य के अनेक पक्ष होते हैं। भारतीय समाज में अनेक धर्म एवं सम्प्रदाय हैं। विभिन्न प्रकार की सांस्कृतिक परम्पराएँ, समस्याएँ और रूप हैं। भारतीय दाम्पत्य जीवन में, सभी धर्मों और सम्प्रदायों में एक सामान्य तथ्य है— दाम्पत्य की सार्वभौमिक सत्ता। भारतीय समाज परम्परावादी एवं रूढ़िवादी है। इसमें दाम्पत्य—पूर्व प्रेम एवं यौन सम्बन्ध त्याज्य है तथा दाम्पत्य जीवन में पति-पत्नी का सम्बन्ध प्रेम, निष्ठा, त्याग, सेवा पर आधारित है। दाम्पत्य को निम्नलिखित रूप से दो भागों में बाँटा जा सकता है— सफल दाम्पत्य जीवन एवं असफल दाम्पत्य जीवन। सम्बन्धों की मधुरता या कटुता पारिवारिक जीवन के समीकरण तय करती है। परिवार की सुख-समृद्धि पति-पत्नी के समायोजन पर आश्रित है। जिस परिवार में दोनों मानसिक एवं भौतिक रूप से स्वस्थ, तनाव, घुटन एवं संत्रास से मुक्त

1 भटनागर, उर्मिला, हिन्दी उपन्यासों में दाम्पत्य-चित्रण, अर्चना प्रकाशन, जयपुर, सन्-1991, पृ० सं०-6

2 यथावत्, पृ० सं०-12

जीवन जीते हैं वह परिवार खिले फूल के समान आकर्षक एवं प्रभावी होता है। सुखी दाम्पत्य जीवन के लिए पति-पत्नी में संतुलन आवश्यक है। पारस्परिक श्रद्धामय प्रेम, वैचारिक एकता, सद्भावना एवं अनुशासन, आदर एवं सम्मान की भावना दाम्पत्य जीवन को सुखी एवं सफल बनाने में सहायक है। आत्मसमर्पण जिस नारी का संस्कारजन्य एवं स्वाभाविक गुण होता है, वह अपने दाम्पत्य जीवन को सुव्यवस्थित ढंग से चलाने में समर्थ होती है। भारतीय परिवारों में सफल दाम्पत्य जीवन व्यतीत करने हेतु आरंभ से ही कन्या को शिक्षा प्रदान की जाती है। “सफल गृहिणी बनकर अपना परिवार संभालना, अपने पति को सुख-संतोष प्रदान करना और अपने बच्चों का भविष्य बनाना तथा संवारना हर लड़की अपना कर्तव्य समझती है और सद्गृहिणी बनने का प्रयत्न करती है। वास्तव में, नारी का अस्तित्व परिवार में ही बनता- बिगड़ता है।”<sup>1</sup> नारी-जीवन का मूल्यांकन उसके सफल दाम्पत्य जीवन के आधार पर किया जाता है। यह भी उल्लेखनीय है कि जब पति-पत्नी के सम्बन्धों में दरार पड़ने लगे तब दाम्पत्य जीवन अभिशाप बन जाता है। असफल दाम्पत्य जीवन के अनेक कारण हैं। जैसे- अनमेल विवाह, पति-पत्नी में वैचारिक एकता का अभाव, पारस्परिक दुर्व्यवहार, अवैध प्रेम-सम्बन्ध, अधिकार भावना, अशिक्षित स्त्री, अर्द्धशिक्षा और करूपता, पति-सेवा एवं निष्ठा का अभाव, पारस्परिक अविश्वास, पुराने एवं नये विचारों का संघर्ष, पतिव्रत धर्म का एकांगी आदर्श आदि।

पति-पत्नी का संयुक्त जीवन ही सुदृढ़ समाज एवं परिवार का आधार है। इसके अभाव में संगठित समाज एवं परिवार की कल्पना दुःस्वप्न मात्र है। दम्पती परिवार-संस्था के लिए महत्त्वपूर्ण हैं, इनसे किसी-न-किसी रूप में परिवार का सामाजिक महत्त्व बना रहेगा।

#### 2.6.1.4 पारिवारिक सम्बन्ध

जन्म से लेकर मृत्यु तक व्यक्ति समाजिक सम्बन्धों में बँधा रहता है। ये सम्बन्ध व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में सहायक होते हैं। परिवार अनेक सम्बन्धों के मेल से बना है, जैसे- पति-पत्नी, माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहन,

1 सिन्हा, सुरेश (डॉ०), हिन्दी उपन्यासों में नायिका की परिकल्पना, अशोक प्रकाशन, दिल्ली, सन्-1964, पृ० सं०-163

दादा—दादी, नाना—नानी, सास—बहू आदि। ये सम्बन्ध ही मुख्यतः पारिवारिक सम्बन्ध कहलाते हैं। भारतीय समाज में अद्वितीय एवं विचित्र बंधन रक्त—सम्बन्ध का है। यह आदिकाल से ही प्रचलित रहा है। “एक ही स्त्री से उत्पन्न समस्त संतानों में एक विशेष प्रकार का रक्त का बंधन रहता है, जो अन्य किसी प्रकार के समुदायों में सम्भव नहीं होता है। इस बंधन से ही परिवार का निर्माण होता है। यहाँ पर ध्यान रखने योग्य बात यह है कि यह सम्बन्ध केवल माता—पिता और बच्चों में ही नहीं होता है, बल्कि अप्रत्यक्ष रूप से परिवार के बाबा, दादी, चाचा, चाची और उनकी संतानों में भी होता है।”<sup>1</sup> रक्त—सम्बन्धों की अवहेलना नहीं की जा सकती। ये सम्बन्ध परिवार के शारीरिक अवयव की भाँति हैं। सम्बन्धों में घनिष्ठ, आत्मीय एवं स्नेह—सद्भाव के आधार पर परिवार को संगठित रखा जा सकता है। इस मूल आधार के अभाव में अपनत्व के बंधन जब टूट जाते हैं तो परिवार बिखर जाता है। पारिवारिक सम्बन्ध परिवार के निर्णायक होते हैं।

भारतीय शास्त्रों में परिवार संस्था को वृहद् धरातल पर स्वीकार किया गया है। भारतीय परिवार में ‘वसुधैव कुटुम्बकम्’ का सिद्धान्त सदैव प्रचलित रहा है। अपने सजातीय बंधु—बांधवों को स्वजन तथा आत्मीय स्वीकार किया गया है।

### 2.6.1.5 पारस्परिक प्रेम एवं पारिवारिक भावना

परिवार मानवीय—विकास की संस्था है। यह उच्च आदर्शों से युक्त होता है। परिवार के सदस्य एकता तथा स्नेह द्वारा स्वस्थ परिवार को आधार प्रदान करते हैं। बर्जेस तथा लॉक के अनुसार, “पारस्परिक स्नेह और विवाह परिवार का आवश्यक आधार बनता जा रहा है।”<sup>2</sup> पारस्परिक प्रेम एवं पारिवारिक—भावना वह सुदृढ़ आधारशिला है, जिस पर ‘परिवार’ नामक चिरंतन, स्थायी, भव्य भवन की प्रतिस्थापना होती है, यह वह शक्ति है, जो पारिवारिक सदस्यों को एक वृत्त में घेरे रहती है। परिवार—जन सभी एक साथ रहते हैं। भारतीय परिवार में सदस्यों में परस्पर प्रगाढ़ प्रेम होता है। वे दूसरों की सुख—सुविधाओं को ध्यान में रखते हुए

1 शर्मा, कैलाशनाथ, त्रिपाठी, शंभूरत्न, पारिवारिक समाजशास्त्र, किताब महल, इलाहाबाद, सन्—1956, पृ० सं०—28

2 स्वर्णलता (डॉ०), स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास साहित्य की समाजशास्त्रीय पृष्ठभूमि, विवेक पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, सन्—1975, पृ० सं०—60

अपने कर्तव्यों और अधिकारों का पालन करते हैं। पुत्रियों तथा बहनों आदि को भी समय-समय पर आमन्त्रित करके सम्मानित किया जाता है और उपहार आदि दिए जाते हैं। भैयादूज, रक्षा-बन्धन आदि अनेक त्योहार पारस्परिक स्नेह के अनेक उदाहरण हैं। माताएँ अपने पुत्रों की शुभकामना के लिए अनेक व्रत-त्योहार मनाती हैं। संयुक्त परिवार में चार पीढ़ियों तक लोग एक साथ रहते हैं। यही सबसे बड़ा प्रमाण है कि परिवार के सदस्यों में परस्पर कितना प्रेम होता है। पारिवारिक भावना का सीधा, सहज सम्बन्ध क्रमशः परिवेश, समाज और युगीन परिस्थितियों से होता है। इसके अन्तर्गत जीवनपरक मूल्यों एवं दायित्व-बोध के समर्थ तत्त्वों का समावेश होता है, जो आदर्श स्वरूप उनके समक्ष होते हैं तथा पथ-प्रदर्शक के रूप में कार्य करते हैं। “परिवार अथवा पारिवारिक-सदस्यों के मन-मस्तिष्क में एक-दूसरे सदस्य के प्रति अन्तर्निहित श्रद्धा, सम्मान, सहयोग, सद्भावना, कर्तव्य-बोध, आत्म-नियंत्रण, उत्तरदायित्व-भावना, प्रेम, स्नेह, ममता, वात्सल्य, त्याग, सहिष्णुता, उदारता, भय, सुरक्षा आदि विशिष्ट-गुणों को समय, सदस्य और आवश्यकता के अनुसार वहन करने वाली शक्ति या अनुभूति या भावना पारिवारिक-भावना के नाम से अभिहित होती है।”<sup>1</sup>

## 2.6.2 सामाजिक व्यवस्था

प्रत्येक समाज की अपनी विशिष्ट संरचना होती है, जिसका निर्माण समाज के निर्णायक अवयवों द्वारा होता है, जिनमें व्यक्ति, समूह, संस्थाएँ, जाति आदि प्रमुख हैं। सामाजिक व्यवस्था उस स्थिति को प्रकट करती है, जिसमें समाज की निर्णायक सभी इकाइयाँ क्रियाशील रहते हुए परस्पर संपूर्ण संरचना के साथ अर्थपूर्ण रूप से सम्बद्ध रहती हैं। सामाजिक व्यवस्था की अवधारणा को विकसित करने का श्रेय अमरीकी समाजशास्त्री टॉलकॉट पारसंस को प्राप्त है। उनके मतानुसार, “अति सरल शब्दों में यह कहा जा सकता है कि सामाजिक व्यवस्था, एक ऐसी परिस्थिति में जिसका कि कम से कम एक भौतिक या पर्यावरण सम्बन्धी पक्ष हो, अपनी इच्छाओं या आवश्यकताओं की अधिकतम पूर्ति से उत्प्रेरित एकाधिक वैयक्तिकताओं

1 शर्मा, राजेन्द्र कुमार (डॉ०), प्रेमचन्द परम्परा की कहानियों में पारिवारिक एवं सामाजिक चित्रण, प्रगति प्रकाशन, आगरा, सन्-1984, पृ० सं०-69

की पारस्परिक अन्तःक्रियाओं का परिणाम है, और इन अन्तःक्रियाओं में लगे हुए व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध, जिसमें परिस्थितियों के साथ उनके सम्बन्ध भी सम्मिलित होते हैं, सांस्कृतिक रूप से संरचित तथा स्वीकृत प्रतीकों की एक व्यवस्था द्वारा पारिभाषित और मध्यास्थित होते हैं।<sup>1</sup> उपर्युक्त परिभाषा के आधार पर यह स्पष्ट है कि सामाजिक व्यवस्था आवश्यक रूप से अंतःक्रियात्मक सम्बन्धों का जाल है। समाजशास्त्री विलफ्रेडो पैरेटो ने सामाजिक व्यवस्था को पारिभाषित करते हुए लिखा है, “सामाजिक व्यवस्था समाज की उस दशा का संकेत करती है, जो किसी दिए हुए समाज तथा परिवर्तन की उत्तरोत्तर दिशाओं से प्राप्त होता है।”<sup>2</sup> लूमिस का सामाजिक व्यवस्था के विषय में विचार है कि, “यह एकाधिक वैयक्तिक कर्ताओं की अन्तःक्रिया से निर्मित होती है। इन कर्ताओं के एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध संरचित एवं सहभागी प्रतीकों एवं प्रत्याशाओं के प्रतिमान की परिभाषा एवं मध्यस्थता द्वारा पारस्परिक रूप से उदीयमान होते हैं।”<sup>3</sup> प्रतिमानित सामाजिक सम्बन्ध एवं सामाजिक प्रक्रियाएँ ही सामाजिक व्यवस्था के स्वरूप को निर्धारित करते हैं। जोन्स का मानना है, “सामाजिक व्यवस्था वह स्थिति है जिसके अन्तर्गत समाज के विभिन्न कार्यशील अंग एक-दूसरे से तथा संपूर्ण समाज के साथ अर्थपूर्ण ढंग से सम्बद्ध होकर कार्य करते हैं।”<sup>4</sup>

अतः उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि सामाजिक व्यवस्था वह संरचना है जिसमें सभी इकाइयाँ अपने-अपने कार्यों को सुचारु ढंग से संचालित रखते हुए आपस में अंतःसम्बन्ध रूप से प्रतिमानात्मक आधार पर जुड़ी रहती हैं। व्यवस्था सार्थक जीवन-यापन और अपेक्षित उच्च आदर्शों के साथ समाज संचालन के लिए होती है। सामाजिक व्यवस्था के प्रतिमान समाज की उन्नति और विकास के लिए होते हैं।

1 शर्मा, एस० एस०, सामाजिक व्यवस्था, सरूप एण्ड संस, मेरठ, सन्-1986, पृ०सं०-73

2 उद्धृत, तिवारी, ममता, निराला का गद्य और भारतीय समाज, सामयिक बुक्स प्रकाशन, इलाहाबाद, सन्-2011, पृ०सं०-19

3 विद्याभूषण, समाजशास्त्र के सिद्धान्त, किताब महल, इलाहाबाद, पंचम संस्करण-सन् 1989, पृ०सं०-176

4 अग्रवाल, गोपाल कृष्ण, समाजशास्त्र, साहित्य भवन, आगरा, सन्-1980, पृ० सं०-492

### 2.6.2.1 सामाजिक व्यवस्था के तत्त्व

सामाजिक व्यवस्था के निर्माण में सहायक तत्त्वों का अध्ययन भी आवश्यक है। पाश्चात्य समाजशास्त्री लूमिस ने सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करने वाले आठ प्रमुख तत्त्वों का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार हैं—

1. “विभिन्न प्रकार के सामाजिक और पारलौकिक विश्वास जो व्यक्ति को मानसिक संघर्षों से छुटकारा दिलाते हैं।
2. सदस्यों में एक-दूसरे के प्रति भावनाएँ
3. सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत आवश्यकताओं, लक्ष्यों और उद्देश्य का समावेश, जो किसी व्यवस्था को व्यक्तियों के लिए उपयोगी बनाये रखते हैं।
4. सामाजिक-सांस्कृतिक परिस्थितियों के अन्तर्गत व्यक्तियों के व्यवहारों पर नियन्त्रण रखने के लिए आदर्श-नियमों की एक व्यवस्था।
5. प्रस्थिति और भूमिका की व्यवस्था जिससे सामाजिक व्यवस्था क्रियाशील रहती है।
6. पारस्परिक संघर्षों पर नियन्त्रण रखने के लिए एक शक्ति-व्यवस्था का होना।
7. समाज द्वारा स्वीकृत मान्यताएँ अथवा सामाजिक मूल्य।
8. समाज द्वारा प्रदत्त सुविधाएँ, जिनसे व्यक्तियों को अपने दायित्वों को पूरा करने की प्रेरणा मिलती है।”<sup>1</sup>

इन्हीं तत्त्वों के द्वारा मानव परस्पर संगठित रहते हुए सामाजिक सम्बन्ध कायम करता है। पारस्परिक सहयोग और संघर्ष के तंतुओं से ही व्यवस्था बुनी जाती है।

सामाजिक व्यवस्था एक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा समाज पूर्व निश्चित उद्देश्यों के अनुसार कार्य करने तथा उन्हें पूर्ण करने का प्रयास करता है। सामाजिक व्यवस्था जड़ नहीं होती अपितु इसमें गतिशीलता और क्रियाशीलता पायी जाती है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था भी गतिशील एवं क्रियाशील है। भारतीय समाज लगभग 5000 वर्ष प्राचीन है। भारतीय समाज की बहुत बड़ी विशेषता इसकी निरंतरता है। इसकी सभ्यता की इतिहास की चादर में कई सलवटें आयीं,

---

1 अग्रवाल, गोपाल कृष्ण, समाजशास्त्र, साहित्य भवन, आगरा, सन्-1980, पृ० सं०-496

उतार-चढ़ाव आये फिर भी यह आज बराबर बना हुआ है। भारतीय समाज के विषय में डॉ० राधाकमल मुखर्जी का कथन दृष्टव्य है, “अन्य समाजों की तुलना में भारतीय समाज की विशेषता यही है कि हमारा समाज बाह्य कानूनों, नीतियों और बंधनों पर सबसे कम निर्भर है। भारत में तो प्रथा, परम्परा तथा अन्य संस्थागत व्यवस्था के द्वारा ऐसे सच्चरित्र व्यक्तियों के निर्माण करने का प्रयत्न हुआ, जो सबके जीवन में तादात्म्य स्थापित कर लेने के कारण अपने प्रभाव से उत्कृष्ट और न्यायोचित समाज-रचना करने में समर्थ होते हैं।”<sup>1</sup> इतिहास साक्षी है, यहाँ कई वर्षों तक परिवार, नातेदारी, धर्म और अर्थव्यवस्था का फैलाव रहा। यहाँ विदेशी जातियाँ, मुसलमान, पारसी तथा अंग्रेज आये हैं। इन सभी जातियों ने पारस्परिक अन्तरसम्बन्धों द्वारा एक व्यवस्था स्थापित की है। इसी व्यवस्था को भारतीय सामाजिक व्यवस्था कहा जाता है।

भारतीय सामाजिक व्यवस्था को यदि कालक्रम में बाँधने का प्रयास करते हैं तो ब्रिटिश साम्राज्य सदैव स्मरणीय रहेगा। ब्रिटिश साम्राज्य में जहाँ अनेक परिवर्तन व्यवस्था में हुए वे हितकारी कम, घातक ज्यादा थे। सन् 1600 के आसपास ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत आयी। तब इसका उद्देश्य हिन्दुस्तान से तैयार माल, जैसे-कपड़ा, जूट, मसालों आदि को पूर्व से यूरोप में ले जाकर बेचना था, जहाँ इन चीजों की बहुत माँग थी। धीरे-धीरे यह कम्पनी हिन्दुस्तान की शासक बन गयी। एक ओर अंग्रेजी सरकार की आर्थिक औपनिवेशिकता के दुष्चक्र में पिसता समाज घोर दारिद्र्य और उत्पीड़न की जिन्दगी जीता रहा, दूसरी ओर अंग्रेजी शासन की छत्र-छाया में पालित-पोषित जमींदार-पूँजीपति तथा नौकरशाह आम-जन का निर्मम शोषण करते ही रहे। अंग्रेजों की नीति थी ‘फूट डालो और राज करो’। उनके मस्तिष्क में यह बात स्पष्ट थी कि भारतवासियों को साम्प्रदायिक आधार पर लड़ाकर अपने साम्राज्य को स्थायी बनाया जा सकता है। मुरादाबाद के कमांडेंट लेफ्टिनेंट कर्नल कोक ने व्यावहारिक स्तर पर यह घोषणा की, “हमारी कोशिश यह होनी चाहिए कि हम पूरी ताकत के साथ विभिन्न धर्मों और जातियों के बीच मौजूदा भेदभाव को बना रहने दें। हमें यह भेदभाव समाप्त करने की कोशिश नहीं करनी

1 सिन्हा, जे० एन०, नीतिशास्त्र, जयप्रकाशनाथ एण्ड कंपनी, मेरठ, तेरहवाँ संस्करण— सन् 1989, पृ० सं०-36

चाहिए। फूट डालो और राज करो ही भारतीय सरकार का सिद्धान्त होना चाहिए।<sup>1</sup> अंग्रेजों की कूटनीतियों ने भारतीय सामाजिक व्यवस्था की जड़ें खोखली कर दीं। उन्होंने यह प्रामाणित करने का प्रयास किया कि भारत न तो एक राष्ट्र है और न ही राष्ट्र के रूप में इसका विकास हो सकता है। अन्ततः 1857 की क्रांति से भारतीयों ने स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए बिगुल बजाया। इससे भारत में राष्ट्रीयता की एक नई लहर आयी। सन् 1947 में स्वतंत्रता की प्राप्ति हुई जिससे देश में चारों ओर उल्लास की लहरें फैल गईं। भारत में आत्माभिमान और आत्मसम्मान की भावना का जन्म हुआ। दो सौ वर्षों की दासता की एक लम्बी अवधि के बाद पूरे भारतवासियों को अपने देश में अपना राज्य स्थापित करने और अपनी राष्ट्रीय प्रतिभा के अनुरूप जीवन-जीने का सुअवसर प्राप्त हुआ। यह हमारे राष्ट्रीय इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है और जीवन के लगभग सभी क्षेत्रों का मोड़ भी।

आजादी के बाद भारतीय जनमानस सपनों से सराबोर था परन्तु धीरे-धीरे ये सपने चकनाचूर होने लगे। जनता ने जितना कुछ खोया, उसका आधा भी नहीं पाया। जिन आदर्शों को लेकर हमारे नेतागण स्वतन्त्रता की बलि वेदी पर अपने को अर्पित करते गये, उनमें से किसी भी आदर्श को जनता फलीभूत नहीं देख सकी। जिन लोगों के द्वारा जनता के इन्द्रधनुषीय सपनों की किरणें विकर्ण होती गयीं, उनके ही द्वारा सभी प्रकार के अनादर्शों और भ्रष्टाचारों को बढ़ावा मिलने लगा। “लोकतंत्र भारतीय जन-जन का अनुष्ठान था और संविधान उसका कर्मकाण्ड किन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद राष्ट्र-निर्माण के इस यज्ञ में जनमंगल को अग्नि समाधि मिली। कोरे आश्वासनों से उसका विश्वास हिल गया। व्यवस्था तंत्र पर कुंडली मारे बैठे राजनीतिज्ञ, दायित्वहीनता की स्थिति व्यापक करने में सफल हुए। दिशाहीन जनता और राजनीतिज्ञों की सत्ता के अतिरिक्त अधिकार लिप्सा ने सामान्य जन के बोध को शून्य कर दिया। ऐसी स्थिति में स्वतंत्रता से उसका मोहभंग हुआ।

---

1 पामदत्त, रजनी, आज का भारत, मैकमिलन कंपनी ऑफ लिमिटेड, दिल्ली, सन्-1966, पृ० सं०-463

लोकतंत्र के प्रति उदासीनता का भाव जागृत हुआ। नेताओं, सत्ताधारी शासकों से निराशा व उनके प्रति अविश्वास की भावना पैदा हुई।<sup>1</sup>

भारत में प्रजातांत्रिक शासन प्रणाली होने के कारण सरकार प्रजा के प्रतिनिधियों द्वारा, प्रजा के हितार्थ संचालित की जाती है। स्वतन्त्र भारत का संविधान देश के समस्त नागरिकों को व्यस्क मताधिकार प्रदान करता है। इस अधिकार के कारण देश की ग्रामीण जनता को भी राष्ट्र की सत्ता में सांझेदारी मिली। लाखों-करोड़ों मजदूर-किसानों की मतपेटियों ने राष्ट्र की राजनीति को प्रभावित किया है। चुनाव राजनीतिक चेतना को मजबूत बनाकर जनमानस में जागृति जगाने का प्रबल माध्यम है। लेकिन यह बात दूसरी है कि आज चुनाव प्रणाली विभिन्न विसंगतियों का समुच्चय बन गयी है। अशिक्षा एवं अज्ञानता इन विसंगतियों के मूल में है और विभिन्न राजनीतिक दलों ने इसमें अपनी-अपनी विशिष्ट भूमिकाएँ निभाई हैं। राजनेता प्रजातंत्र के नाम पर, चुनाव के नाम पर जनता को दिग्भ्रमित कर वोट हासिल कर आत्मस्वार्थ की पूर्ति करते हैं। विभिन्न प्रकार के प्रलोभन तथा हिंसक साधनों द्वारा जनता के मत प्राप्त किये जाते हैं। राजनीति व्यापार का रूप बनकर रह गयी है। समाज में हिंसा, अराजकता तथा अशांति का वातावरण तैयार कर अव्यवस्था को जन्म दिया जाता है। देश में राजनीतिक दलों की बहुलता है, इससे लोकतंत्र का विकास संभव होता है। परंतु आज इनसे राजनीतिक माहौल प्रदूषित हो रहा है। प्रत्याशियों को किसी भी दल से नैतिक प्रतिबद्धता ही नहीं रह गयी, जिस पार्टी का पलड़ा भारी होता है, ये प्रत्याशी उधर ही झुक जाते हैं। राजनीतिक गलियारों में भ्रष्टाचार, अवसरवादिता और वंशपरम्परावाद अब इतना हावी हो चुका है कि उसकी व्यापकता समाज को घुन की तरह चाट रही है। स्वेच्छाचारिता और आचारहीनता का बोलबाला चारों ओर दिखाई दे रहा है।

मूलतः राजनीति का जो रूप होना चाहिए वह नहीं है। “राजनीति के कारण ही व्यक्तिगत स्वतंत्रता की समस्या उत्पन्न हो रही है और अगणित रूप में प्रस्तुत

1 'भावुक', अंजनी कुमार दुबे, समकालीन कविता में विविध आयाम, पूर्वांचल प्रकाशन, दिल्ली, सन्-1999, पृ० सं०-270

हो रही है— अल्पमत की समस्या, संघर्ष में डूबे समुदाय, वर्ग और संगठनों की समस्या। राजनीति अधिक से अधिक इन समस्याओं के साथ खिलवाड़ कर सकती है और एक समस्या को हल करने की कोशिश में वह और भी दो नई समस्याएँ खड़ी कर सकती है।<sup>1</sup> राजनीति के भ्रष्टाचरण ने प्रशासनिक व्यवस्था को भी प्रभावित किया है। प्रशासनिक कमजोरी, वर्तमान प्रशासन की नींव में दरार डाल रही है। लिखित रूप से प्रशासन का सम्बन्ध व्यवस्था से है परन्तु मौखिक रूप से बहुत भिन्न है। भारतीय प्रशासन अपने कर्तव्य, अपनी नैतिकता तथा अपने आदर्शों से परे जा रहा है। लोकतंत्र की सर्वोच्च संस्था न्यायपालिका भी इससे अछूती नहीं है। वर्चस्ववादी लोग न्याय को धन के बल पर खरीद लेते हैं। आम आदमी न्याय के इंतजार में वर्षों तक न्यायालयों के चक्कर काटता रहता है। देश की न्यायपालिका राजनीति से प्रेरित है। राजनीति के प्रभाव से ही अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का प्रतीक मीडिया अपने सरोकारों से भटककर स्वार्थ साधने में रत है। देखा जाये तो समूचा राजनीतिक परिदृश्य महात्मा गाँधी के 'राम-राज्य' तथा नेहरू के 'समाजवाद' से कोसों दूर दिखाई देता है। जिसके कारण जन-मानस में व्यवस्था के प्रति विद्रोह का भाव जन्मने लगा है। वस्तुतः देश की राजनीति जिस प्रकार की होती है उसी के अनुरूप देश की अर्थव्यवस्था, धार्मिक, सामाजिक-सांस्कृतिक और मानसिक स्थिति भी परिवर्तित हो जाती है।

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में स्वतन्त्रता से पहले तथा बाद में भी अनेक समस्याएँ थीं। जिनका उन्मूलन अभी तक नहीं हुआ है, आज भी सती-प्रथा, पर्दा-प्रथा, बाल-विवाह, दहेज-प्रथा, अनमेल विवाह, लैंगिक असमानता, बलात्कार, आतंकवाद, बेरोजगारी, अस्पृश्यता, मानव-अंगों का प्रत्यार्पण, जाति-प्रथा आदि अनेक समस्याएँ सामाजिक व्यवस्था को आघात पहुँचा रही हैं। समाज में बढ़ती साम्प्रदायिकता विष घोल रही है, आज भी इसका कोई स्थायी बन्दोबस्त नहीं हो पाया। धर्म और जाति के नाम पर समाज बँटता रहा है और बँट रहा है। बढ़ते व्यक्तिवादी दृष्टिकोण एवं स्वार्थपरता के कारण ही अनेक बुराइयाँ जन्म ले रही हैं।

1 कुमार, जैनेन्द्र, साहित्य का श्रेय और प्रेय, पूर्वोदय प्रकाशन, दिल्ली, सन्-1961, पृ०सं०-278

प्राचीन मान्यताएँ, आदर्श एवं मूल्य परिवर्तित एवं संकुचित हो रहे हैं। पारस्परिक सहयोग, भाईचारा तथा सामूहिकता नाम मात्र की भी नहीं रह गयी है। नैतिक प्रतिमानों को समाज झुटला रहा है। परिवार तथा आपसी सम्बन्ध दम तोड़ रहे हैं। शिक्षा व्यक्ति को सुसंस्कृत बनाती है। परन्तु आज उसका भी व्यावसायीकरण हो गया है। विद्यालय विद्या की दुकानें बनते जा रहे हैं।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् जन-जीवन की कठिनाइयाँ कम होने की अपेक्षा बढ़ती ही गयीं, बाहर-भीतर का जन-जीवन संघर्षमय बन गया। भारतीय संविधान का निर्माण देशवासियों के अनुरूप किया गया है, जिसमें- शांतिपूर्ण सह अस्तित्व, सद्धर्मों और जातियों के प्रति समभाव, समानाधिकार, नारी-स्वातन्त्र्य, पिछड़ी जातियों की प्रगति की सुविधाएँ, आर्थिक समानता आदि जनकल्याण के अनेकानेक सिद्धान्त निहित हैं। लेकिन संविधान द्वारा संचालित समाज वास्तविक भारत में स्थापित नहीं हुआ। जनता की संकल्पनाओं पर स्वतंत्र भारत के नंगे यथार्थ ने पानी फेर दिया। स्वतंत्रता के पश्चात् प्रगति अवश्य हुई परन्तु उस उपलब्धि में सामान्य जनता का हिस्सा नहीं के बराबर था। जन-जीवन इतना अस्त-व्यस्त हो गया कि जो सम्पन्न थे, वे अपनी शक्ति के बल पर और सम्पन्न बन गये। गरीबों के दोहन की प्रक्रिया तीव्र हो गयी। नये उत्पादनों और नयी सुविधाओं के बीच सामान्य तथा मध्यवर्गीय मानव अपने आपको और भी अधिक अभावग्रस्त महसूस करने लगा। देश के विकास के लिए अनेक पंचवर्षीय योजनाएँ आरम्भ की गईं, जिनका मूल उद्देश्य यह था कि अधिक से अधिक बचत के साथ और निर्धारित समय के भीतर कृषि, उद्योग, सिंचाई, बिजली, शिक्षा, परिवहन, स्वास्थ्य आदि क्षेत्रों का विकास, वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति प्राप्त करना, गरीबी हटाना। परन्तु इससे समाज में आर्थिक विषमता का जन्म हुआ, निर्धनता, महँगाई तथा बेरोजगारी जैसे दुर्भाग्य समेटने में नहीं आ रहे। असंतोषजनक आर्थिक स्थिति और बढ़ती जनसंख्या शहरों और महानगरों की गंभीर समस्या है। बढ़ते औद्योगीकरण के कारण तथा रोजगार प्राप्ति के लिए लोग गाँवों से शहर में आकर बसने लगे। इसके कारण नगरों की आबादी में बढ़ोतरी हुई, शहरी समस्याएँ जटिलतर होने लगीं। वैज्ञानिक-औद्योगिकी-तकनीकी प्रगति ने मानव को सुविधा सम्पन्न तो बनाया परन्तु परम्परागत जीवन

मूल्यों पर प्रश्न चिह्न लगा दिया है। पैसा कमाने की होड़ में मनुष्य अपनी सभ्यता संस्कृति और आदर्शों को भूलता जा रहा है, तथा स्वयं को मानवता से दूर ले जा रहा है। अर्थ मनुष्य के लिए इतना महत्वपूर्ण बन गया है कि उसने सामाजिक सम्बन्धों, यहाँ तक कि संवेगों को भी प्रभावित किया है, “हमारे सामाजिक सम्बन्ध ही नहीं हमारी सूक्ष्म और कोमल भावनाएँ भी बदल गई हैं। चुपके-से उन सबका आर्थिकीकरण हो गया है। प्रेम, दया, सहानुभूति, सम्मान, देश-भक्ति और प्रार्थना तक में अर्थतन्त्र घुस गया है। धन तो बाद की चीज थी, पहले तन और मन दिया जाता था। लेकिन अब हम तन-मन की जगह धन देते हैं— प्रेम करेंगे तो उपहार देंगे, दया करेंगे तो पैसा फेंकेंगे, सहानुभूति जतानी होगी तो आर्थिक सहायता देंगे, सम्मान देना-पाना होगा तो पैसा खर्च करेंगे, देश-भक्ति दिखाने के लिए हथियार लेकर लड़ने नहीं जायेंगे अपनी जगह अपना काम सही ढंग से नहीं करेंगे, रिश्वत या चोर बाजारी से कमाया हुआ रुपया डिफेंस में दे देंगे।”<sup>1</sup> अतः अर्थ के कारण सम्बन्धों में आत्मसमर्पण, सहयोग एवं मानवीय तत्त्व गायब हो रहे हैं।

मानव ने अपने सुखमय भावी जीवन के निर्माण के लिए संयम के रास्ते को अपनाया। संयम का रास्ता सामाजिक जीवन को व्यवस्थित करता है। इसीलिए आज प्रत्येक कार्य के साथ धर्म शब्द जुड़ गया है। सामाजिक कार्य धर्म की श्रेणी में आ गये हैं। पाखण्डियों तथा धर्म के ठेकेदारों ने धार्मिक भावना को कर्मकाण्ड में उलझा दिया है। धर्म का उद्देश्य मानव-कल्याण न रहकर जनता का शोषण करना है। मानव-समाज रूढ़ियों, कुप्रथाओं, धार्मिक अंधविश्वासों में इस तरह जकड़ा गया है कि वह धर्म से भटक कर अधर्म की ओर बढ़ रहा है। अतः इस स्थिति में आवश्यक है कि पर्याप्त शिक्षा का प्रचार-प्रसार कर जागरूकता को बढ़ाया जाए ताकि मनुष्य धर्म की वास्तविक परिभाषा को समझ कर अपना जीवन सार्थक बना सके, क्योंकि धर्म हमारी आत्मा है, व्यक्तित्व है, संस्कार है जो हमारी परम्परा को समृद्ध बनाता है। भारत धर्म-निरपेक्ष राज्य है, यहाँ प्रत्येक धर्म का सम्मान किया जाता है। धर्म समाज से पूर्णतः सम्बद्ध है। यह केवल अपने शिष्यों के

1 'भूपेन्द्र', सरला गुप्ता, समकालीन हिन्दी नाटक : चेतना के आयाम, पंचशील प्रकाशन, जयपुर, सन्-1987, पृ०सं०-102

लिए नैतिकता को केवल पारिभाषित ही नहीं करता बल्कि उनके अंदर पारिभाषित नैतिक आदर्शों के अनुरूप व्यवहार करने की प्रवृत्तियों को शक्ति भी प्रदान करता है। "जिस सीमा तक धार्मिक समूह के आंतरिक नैतिक आदर्श समाज के आदर्शों के समरूप होते हैं उस सीमा तक धार्मिक समूह के आंतरिक सामाजिक नियंत्रण का वृहत् समाज के लिए भी प्रकार्यात्मक महत्त्व होता है।"<sup>1</sup>

भारतीय समाज की अपनी एक एकता है। जो इसे एक सूत्र में बाँधे रखती है, बिखरने नहीं देती। अनेक परम्पराएँ हैं जो सामाजिक व्यवस्था को सुदृढ़ बनाती हैं, प्रेम, भाईचारे तथा बंधुत्व की भावना के साथ मिल-जुलकर समाज का नव-निर्माण करती हैं। समाज तथा साहित्य का अटूट सम्बन्ध है। साहित्य सामाजिक व्यवस्था को सुचारु और व्यवस्थित ढंग से प्रभावित कर परिवर्तित कर सकता है। कथाकार प्रेमचन्द के अनुसार, "अब साहित्य केवल मन बहलाव की चीज नहीं है। मनोरंजन के सिवा उसका और भी कुछ उद्देश्य है। अब वह केवल नायक-नायिका के संयोग-वियोग की कहानी नहीं सुनाता बल्कि जीवन की समस्याओं पर विचार करता है और उन्हें हल करता है। अब वह स्फूर्ति या प्रेरणा के लिए अद्भुत आश्चर्यजनक घटनाएँ नहीं ढूँढता और न अनुप्रास अन्वेषण करता है। किंतु उसे उन प्रश्नों में दिलचस्पी है, जिनसे समाज और साहित्य प्रभावित होते हैं।"<sup>2</sup> साहित्य समाज से प्रतिबद्ध है। वैसे तो समाज एवं उसकी समस्याओं का अध्ययन समाजशास्त्रीयों का ही कार्य है किन्तु एक संवेदनशील साहित्यकार भी सामाजिक मुद्दों के साथ संवेदनात्मक एक्य स्थापित कर उसके समाधानपरक विकल्पों को तलाशने में महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकता है। साहित्यकार संवेदनशील प्राणी होने के साथ-साथ युग धड़कन को पहचानने की शक्ति रखता है और अपनी लेखनी के माध्यम से एक जागरण एवं आंदोलन की पृष्ठभूमि तैयार करने में भी सक्षम होता है। लेखिका मृणाल पाण्डे भी समाज के प्रति समर्पित साहित्यकार हैं, जिन्होंने सामाजिक व्यवस्था के सभी पक्षों को उजागर करके अपने कर्तव्य का पालन किया है।

1 शर्मा, एस०एस०, सामाजिक व्यवस्था, सरूप एण्ड सन्स, मेरठ, सन्-1986, पृ०सं०-128

2 सिंह, कुंवरपाल, मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र और हिन्दी उपन्यास, नवचेतना प्रकाशन, नई दिल्ली, सन्-2005, पृ०सं०-44

### 2.6.3 सांस्कृतिक प्रतिमान

‘प्रतिमान’ शब्द मूल्य का समानार्थी है। प्रतिमान से अभिप्राय है, “मानदण्ड, माप, मानक, प्रमाण, निकष, आदर्श, मध्यमान, नियम, नमूना, कसौटी आदि है।”<sup>1</sup> दूसरे शब्दों में, प्रतिमान वह है जिसके अनुसार किसी भी योग्यता, श्रेष्ठता, गुण आदि का अनुमान या कल्पना की जाए।

सांस्कृतिक प्रतिमान पर विस्तारपूर्वक चर्चा करने से पूर्व ‘संस्कृति’ पर दृष्टिपात करना भी आवश्यक है।

#### 2.6.3.1 संस्कृति : अर्थ एवं परिभाषा

‘संस्कृति’ एक भाववाचक शब्द है। संस्कृति शब्द की रचना ‘सम्’ उपसर्ग के साथ ‘कृ’ धातु लगाने से हुई है। जिसका अर्थ है— परिष्कार, संस्कार और परिमार्जन। अंग्रेजी भाषा में संस्कृति का समानार्थी शब्द ‘कल्चर’ है, कल्चर का अर्थ, “मस्तिष्क तथा उसकी शक्तियों को विकसित करना, शिक्षा तथा शिक्षण के द्वारा मानसिक वृत्तियों को सुधारना है।”<sup>2</sup>

संस्कृति को अनेक विद्वानों ने अपने ढंग से पारिभाषित किया है—

- **मैकाइवर तथा पेज के अनुसार—** “हमारे रहन-सहन के तरीकों में, हमारे दैनिक व्यवहार तथा सम्बन्धों में, विचार के तरीकों में, हमारी कला, साहित्य, धर्म तथा मनोरंजन व आमोद-प्रमोद में हमारी प्रकृति की जो अभिव्यक्ति होती है, उसी को संस्कृति कहते हैं।”<sup>3</sup>
- **राबर्ट बीरस्टीड के शब्दों में,** “संस्कृति एक जटिल सम्पूर्णता है जिसमें वे सभी वस्तुएँ सम्मिलित हैं जिन पर हम विचार करते हैं, कार्य करते हैं और समाज का सदस्य होने के नाते उन्हें अपने पास रखते हैं।”<sup>4</sup>

1 सत्यप्रकाश (संपा०), मानक अंग्रेजी-हिन्दी कोश, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सन्-1971, पृ०सं०-917

2 ‘यायावर’, रामसनेही लाल शर्मा, संस्कृति और साहित्य : सम्बन्धों के अन्तःसूत्र, मीनाक्षी प्रकाशन, दिल्ली, सन्-2009, पृ०सं०-12

3 शर्मा, एस०एस०, समाजशास्त्र के मूल तत्त्व, सरूप एण्ड सन्स, मेरठ, सन्-1971, पृ०सं०-319

4 अग्रवाल, गोपाल कृष्ण, समाजशास्त्र, साहित्य भवन, आगरा, सन्-1980, पृ०सं०-289

- **रामधारी सिंह दिनकर के कथनानुसार,** "यह (संस्कृति) जिन्दगी का एक तरीका है और वह तरीका सदियों में जमा होकर उस समाज में छाया रहता है, जिसमें हम जन्म लेते हैं। इसलिए जिस समाज में हम जी रहे हैं या जिस समाज में हमने जन्म लिया है, उसकी संस्कृति हमारी संस्कृति है। इस दृष्टि से संस्कृति वह चीज कही जा सकती है, जो हमारे सारे जीवन को व्यापे हुए है तथा जिसकी रचना और विकास में सदियों के अनुभव का हाथ है।"<sup>1</sup>
- **डॉ० रामकुमार वर्मा ने संस्कृति के सम्बन्ध में विचार व्यक्त करते हुए लिखा है,** "संस्कृति पुरानी परम्पराओं द्वारा अर्जित की हुई निष्ठा है जो हमारे अन्तर्जगत का निर्माण करती है।"<sup>2</sup>

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि व्यक्ति के सर्वांगीण विकास, समाज के मानकीकरण तथा समाज हित के लिए जो बाह्य एवं आभ्यन्तर क्रिया—कलाप, आचार—विचार, धर्म, दर्शन, प्रथाएँ, संस्कार आदि सहायक होते हैं, उन सबका योग ही संस्कृति है। संस्कृति का शाश्वत् स्वरूप उसकी गतिशीलता में है। वह केवल मूल्यों की जड़ संरचना ही नहीं, अपितु नये जीवन मूल्यों की खोज भी है।

यह ध्यातव्य है कि प्रत्येक समाज की संस्कृति एक—दूसरे से भिन्न होती है जिसके कारण ही पृथक्—पृथक् समाजों में व्यक्तियों का व्यक्तित्व भी एक—दूसरे से अलग दिखाई देता है। इस संदर्भ में सांस्कृतिक परिवेश को समझने के लिए सांस्कृतिक प्रतिमानों को समझना आवश्यक है। सांस्कृतिक प्रतिमानों का निर्धारण विभिन्न संस्कृतियों के अनुसार ही होता है।

### 2.6.3.2 सांस्कृतिक प्रतिमान : अर्थ एवं परिभाषा

'सांस्कृतिक प्रतिमान' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम पाश्चात्य विद्वान 'रूथ बेनेडिक्ट' ने किया था। उसके मतानुसार, "संस्कृति के विभिन्न अंगों का केवल योग

1 दिनकर, रामधारी सिंह, हमारी सांस्कृतिक एकता, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, सन्-1956, पृ०सं०-4  
2 वर्मा, रामकुमार (डॉ०), साहित्य शास्त्र, साहित्य निकुंज, प्रयाग, सन्-1948, पृ०सं०-129

ही उसे एक सांस्कृतिक इकाई का रूप नहीं देता। ये भिन्न-भिन्न अंग आपस में एक निश्चित प्रतिमान में जुड़कर एक नवीन इकाई का रूप धारण कर लेते हैं। इसी को हम सांस्कृतिक प्रतिमान कहते हैं।<sup>1</sup>

सांस्कृतिक प्रतिमान सामान्य अर्थ में वह हैं जो किसी सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रकट होकर मानव व्यवहार को अपने अनुरूप ढाल लेते हैं। विद्वानों ने अपनी परिभाषाओं द्वारा सांस्कृतिक प्रतिमानों को इस प्रकार स्पष्ट किया है—

- **बोगार्डस ने सांस्कृतिक प्रतिमान को परिभाषित करते हुए लिखा है,** “सांस्कृतिक प्रतिमान ऐसी बात के विश्वास करने या कार्य करने की विधि की निष्पक्ष अभिव्यक्ति है, जो लोगों में सामान्य है।”<sup>2</sup>
- **हर्सकोविट्स ने सांस्कृतिक प्रतिमान की विस्तृत रूप में परिभाषा दी है,** उसके मतानुसार, “संस्कृति-प्रतिमान एक संस्कृति के तत्त्वों का वह डिजाइन है जो उस समाज के सदस्यों के व्यक्तिगत व्यवहार-प्रतिमान के माध्यम से व्यक्त होता हुआ जीवन के तरीके को सम्बद्धता, निरन्तरता एवं विशिष्टता प्रदान करता है।”<sup>3</sup>
- **ग्रोवज तथा मुरे के शब्दों में,** “जब हम ऐसी सांस्कृतिक संयुक्तता को एक साथ रखते हैं जो एक निश्चित वर्ग के लोगों की विशेषतायें होती हैं तो उसे हम सांस्कृतिक प्रतिमान कहते हैं।”<sup>4</sup>

अतः सांस्कृतिक प्रतिमान मानव को विशेष प्रकार की कार्य-प्रणाली प्रदान करते हैं जिसके कारण उनके व्यवहार में समरूपता उत्पन्न होती है। मानव व्यवहार की यह समरूपता सामाजिक व्यवस्था और संगठन को दृढ़ता प्रदान करती है।

### 2.6.3.3 सांस्कृतिक प्रतिमान के तत्त्व

सांस्कृतिक प्रतिमानों का निर्माण विभिन्न छोटे-छोटे तत्त्वों द्वारा ही होता है। पाश्चात्य विद्वान ‘क्लार्क विसलर’ ने नौ आधारमूलक सांस्कृतिक तत्त्वों का उल्लेख किया है, जो सांस्कृतिक प्रतिमान को जन्म देते हैं। ये निम्नलिखित हैं—

---

1 शर्मा, एस०एस०, समाजशास्त्र के मूल तत्त्व, सरूप एण्ड सन्स, मेरठ, सन्-1971, पृ०सं०-332  
2 यथावत्, पृ०सं०-332  
3 विद्याभूषण, समाजशास्त्र के सिद्धान्त, किताब महल, इलाहाबाद, पंचम संस्करण- सन्1989, पृ०सं०-725  
4 शर्मा, एस०एस०, समाजशास्त्र के मूल तत्त्व, सरूप एण्ड सन्स, मेरठ, सन्-1971, पृ०सं०-333

1. “वाणी एवं भाषा
2. भौतिक तत्त्व
  - (i) भोजन की आदतें (ii) निवास (iii) यातायात (iv) पोशाक (v) बर्तन, उपकरण आदि (vi) शस्त्र (vii) व्यवसाय एवं उद्योग
3. कला
4. पुराण—विद्या एवं वैज्ञानिक ज्ञान
5. धार्मिक क्रियाएँ
6. पारिवारिक एवं सामाजिक प्रणालियाँ
7. सम्पत्ति
8. शासन
9. युद्ध<sup>1</sup>

उपर्युक्त तत्त्वों के अतिरिक्त कुछ प्रधान तत्त्व वह होते हैं जो सांस्कृतिक प्रतिमान का निर्धारण करते हैं, वे निम्नलिखित हैं—

#### ● खान—पान

संस्कृति समग्र जीवन का समुच्चय है और खान—पान का अनिवार्य अंग है। प्रागैतिहासिक काल से लेकर वर्तमान समाज में मानव—जीवन में हुए विकास का अध्ययन खान—पान के आधार पर किया जा सकता है। मानव—सभ्यता के आरम्भ में मनुष्य ने औजार बनाना सीखा ताकि शिकार किया जा सके तथा कच्चे मांस को भूनकर खाना शुरू किया। आज जहाँ विविध प्रकार के खान—पान के पदार्थ हैं वहीं खाने के ढंग भी अनेक प्रकार के हैं। विभिन्न संस्कृतियों में उत्पन्न हुए लोगों के रहन—सहन में भी अंतर होता है तथा खान—पान में भी।

#### ● वेशभूषा

सांस्कृतिक प्रतिमान को निर्धारित करने में वेशभूषा भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि देशगत भिन्नता के परिणामस्वरूप संस्कृति भी परिवर्तित होती है, जिससे वेशभूषा में अंतर आ जाता है। इसीलिए कहा जाता है ‘जैसा देश वैसा भेष’। भारतीय संस्कृति

---

1 विद्याभूषण, समाजशास्त्र के सिद्धान्त, किताब महल, इलाहाबाद, पंचम संस्करण— सन् 1989, पृ०सं०—725

ने अनेक युगों के परिवर्तन को देखा है जिसमें वेशभूषा का स्वरूप भी बदलता रहता था, जैसे— ब्रिटिश शासन काल में भारतीय जन-जीवन में अंग्रेजी पहरावा प्रचलित हुआ फिर भी भारतीयता की छाप अवश्य समाहित थी। साधारण जन-मानस सूती वस्त्र धारण करता था, अमीर वर्ग रेशमी तथा भारतीय स्त्रियाँ ज्यादातर साड़ी का ही प्रयोग करती थीं। वेशभूषा के निर्धारण में स्थान विशेष की जलवायु, उपलब्ध साधन, परम्परा और लोकरुचि कारणीभूत होते हैं।

- **आचार—विचार : रीति—रिवाज**

आचार—विचार तथा रीति—रस्म संस्कृति तथा सभ्यता के व्यापक दायरे में आते हैं, जिससे सांस्कृतिक प्रतिमान जन्म लेते हैं। प्रत्येक सांस्कृतिक वर्ग के आचार—विचार तथा रीति—रिवाज के नियम अपने ही होते हैं, जो अन्य से पृथक् अस्तित्व रखते हुए भी एक सामान्य धरातल पर मानव कल्याण की दृष्टि से लगभग समान होते हैं। वस्तुतः आचार—विचार एवं रीति—रिवाज मानव—जीवन के नियामक हैं। रीति—रिवाज, परम्पराएँ सांस्कृतिक विरासत से सम्बन्धित हैं। जो मौखिक रूप से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होती रहती हैं।

- **पर्व—उत्सव, आमोद—प्रमोद**

मानव जीवन में पर्वोत्सव एवं आमोद—प्रमोद का विशेष स्थान होता है जिससे जीवन में एकरसता तथा उबाऊपन को दूर किया जा सकता है। इन साधनों से मनुष्य को मानसिक तथा शारीरिक रूप से नूतन स्फूर्ति एवं शक्ति का अनुमान होता है, उसकी कार्यक्षमता को अद्भुत गति प्राप्त होती है। मानव सदैव से मनोरंजन के साधनों में रुचि लेता रहा है। पहले धृत—क्रीडा, युद्ध—नृत्य, रथ धावन, आखेट, शतरंज का खेल, नटों की क्रीडाएँ तत्पश्चात् घुड़सवारी, पोलो, क्रिकेट, कबड्डी, हाकी का प्रचलन बढ़ गया। अतः आमोद—प्रमोद, रीति—रिवाज आदि सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं।

- **धर्म एवं नैतिकता**

अलौकिक शक्ति से सम्बन्धित समस्त विश्वासों, भावनाओं और क्रियाओं के सम्मिलित रूप को 'धर्म' कहते हैं। "धर्म किसी—न—किसी प्रकार की ऐसी मानवोपरि

या अलौकिक या समाजोपरि शक्ति पर विश्वास करना है, जिसका आधार भय, श्रद्धा, भक्ति और पवित्रता की धारणा है और जिसकी अभिव्यक्ति प्रार्थना या आराधना है।<sup>1</sup> धर्म मानव-जाति के लिए श्रेष्ठ व्यवहार-प्रतिमान है। सांस्कृतिक परिवेश के लिए जिस प्रकार की परिस्थितियों की आवश्यकता होती है, धर्म अपने विभिन्न नियमों और आदर्शों के द्वारा उनके अनुकूल वातावरण बनाने का प्रयत्न करता है। क्यूबर का विचार है, "धर्म सांस्कृतिक जीवन से सम्बन्धित व्यवहार का वह प्रतिमान है जिसका निर्माण पवित्र विश्वासों, विश्वासों से सम्बन्धित उद्वेगपूर्ण विचारों तथा इन्हें व्यक्त करने वाले बाहरी आचरणों आदि से होता है।"<sup>2</sup> प्रार्थना, पूजा या आराधना धर्म की एक मौलिक विशेषता है। धार्मिक क्रियाओं में, अलग-अलग धर्म में अलग-अलग सामग्रियों, धार्मिक प्रतीकों, जादू-टोनों, पौराणिक कथाओं आदि का समावेश होता है।

धर्म के साथ नैतिकता भी समाज को मर्यादित एवं व्यवस्थित करती है। नैतिकता उचित-अनुचित का वह मापदण्ड है जो हमारे कुछ उच्चतर आदर्शों, मूल्यों तथा विचारों को प्रस्तुत करता है, तथा हमें उसे बनाये रखने की प्रेरणा देता है। समाज में जहाँ विभिन्न वर्णों के निमित्त पृथक्-पृथक् विधान हैं वहाँ नैतिकता का पालन सभी वर्णों और जातियों के लिए आवश्यक माना गया है। धैर्य, क्षमा, मन को वश में रखना, अस्तेय, शुचि, इन्द्रिय-निग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य, अक्रोध आदि नैतिक नियम माने गये हैं। समाज में नैतिकता के अभाव में धोखेबाजी, कुटिलता एवं अराजकता का शासन स्थापित होने का भय अधिक रहता है।

धर्म तथा नैतिकता में निकटता का सम्बन्ध है। धर्म का प्रमुख कार्य व्यक्ति के नैतिक विकास से जुड़ा है जो उसे भावात्मक संरक्षण प्रदान करता है। मानवीय संस्कृति के लिए धर्म तथा नैतिकता श्रेष्ठ प्रतिमान हैं।

### • लोक-नृत्य, लोक-गीत, लोक-कथाएँ एवं लोक-विश्वास

भारत की सांस्कृतिक परम्परा में लोक नृत्यों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रत्येक अंचल विशेष के अपने नृत्य होते हैं। लोकगीतों की परम्परा भी भारतीय संस्कृति में

1 मुकर्जी, रवीन्द्रनाथ, सामाजिक मनोविज्ञान की रूपरेखा, किताब महल, इलाहाबाद, सन्-1977, पृ०सं०-489

2 अग्रवाल, गोपाल कृष्ण, समाजशास्त्र, साहित्य भवन, आगरा, सन्-1980, पृ०सं०-402

अति प्राचीन है। ये लोकगीत, किसी पर्व-त्योहार या उत्सव विशेष पर गाये जाते हैं अथवा किसी स्थानीय घटना पर बना लिये जाते हैं। किसी अंचल या क्षेत्र विशेष में प्रचलित दन्तकथाएँ ही लोककथाएँ कहलाती हैं। इन लोकथाओं का मूलाधार लोककण्ठ ही होता है और उसी का आश्रय पाकर ये लोकथाएँ जीवित रहती हैं। क्षेत्र विशेष के लोग नियतिवादी अथवा भाग्यवादी भी होते हैं। उनकी संस्कृति में विश्वासों का स्वरूप भी अत्यधिक वैविध्यपूर्ण होता है। उनका ईश्वर में अगाध विश्वास होता है, वे अनेक लोक देवी-देवताओं की पूजा-अर्चना करते हैं। गाँव में मंदिर, मजार तथा कुल देवताओं की ही पूजा नहीं होती बल्कि वृक्षों, तालाबों, भूत-प्रेतों आदि की भी पूजा की जाती है।

#### ● लोक-भाषा

प्रत्येक क्षेत्र की अपनी लोक-भाषा होती है। लोक-भाषा परिवार तथा समाज के परिवेश से अनौपचारिक रूप से अर्जित की जाती है। लोक-भाषा को लोक-जीवन में सभी वर्गों के लोग समान रूप से बोलते एवं समझते हैं। लोक-भाषा के द्वारा लोक-जीवन का विचार विनिमय और दैनिक व्यवहार व्यक्त होता है। लोक-भाषा के अपने मुहावरे, लोकोक्तियाँ, सूक्तियाँ और अपनी शैलियाँ होती हैं। लोक-भाषा लोक संस्कृति का अनिवार्य एवं महत्त्वपूर्ण अंग है जिससे प्रतिमानों को निर्धारित किया जा सकता है।

अतः सांस्कृतिक तत्त्वों में संयुक्तीकरण की प्रकृति होती है। वे फूलों के गुलदस्ते की भाँति घुल-मिलकर रहते हैं। सांस्कृतिक तत्त्वों के घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होने के कारण व्यवहार-प्रतिमान का जन्म होता है।

समग्रतः 'सांस्कृतिक प्रतिमान' के अध्ययन से संस्कृतियों के मूल्यों तथा आदर्शों को समझने में सहायता मिलती है। आदर्शात्मक प्रतिमान मनुष्यों के सामने सामाजिक व्यवहार के आदर्श प्रस्तुत करते हैं जिसके अनुरूप व्यवहार करने का वे प्रयास करते हैं। व्यवहार के यह आदर्शात्मक प्रेरक ही मानव-आचरण को पशुओं के आचरण से भिन्न करते हैं। सांस्कृतिक प्रतिमानों से व्यक्ति के व्यवहार में एक प्रकार की व्यवस्था उत्पन्न होती है।

## 2.6.4 सामाजिक परिवर्तन बनाम स्त्री की बदलती रूढ़ छवि

सामाजिक परिवर्तन एक सार्वभौम तथा सर्वव्यापी प्रक्रिया है। सामाजिक परिवर्तन से तात्पर्य सामाजिक संगठन में होने वाले परिवर्तन से है अर्थात् सामाजिक सम्बन्धों के स्थापित स्वरूपों, सामाजिक मूल्यों, संरचनाओं या उपव्यवस्थाओं में परिवर्तन ही सामाजिक परिवर्तन कहलाता है। समाज की गतिशीलता का मूलाधार ही सामाजिक परिवर्तन है। प्रक्रिया और परिवर्तन ये दो सदैव उपस्थित रहने वाले सार्वभौमिक तथ्य हैं। इसीलिए सामाजिक परिवर्तन को नकारा नहीं जा सकता, यह अवश्यम्भावी है। डेविस ने परिवर्तन की निश्चितता को स्पष्ट करते हुए लिखा है, "व्यक्ति सुरक्षा और स्थायित्व का प्रयास कर सकते हैं, विभिन्न समाज इस भ्रम को बढ़ावा दे सकते हैं कि वे स्थिर रहेंगे स्थिरता के लिए खोज निरन्तर जारी रह सकती है तथा अमरत्व का विचार स्थिर रह सकता है, लेकिन यह सत्य सदैव रहेगा कि अन्य तथ्यों के समान ही सभी समाज बिना रुके हुए निरन्तर परिवर्तित होते रहते हैं।"<sup>1</sup> सामाजिक परिवर्तन समाज में पूर्ण रूप से न होकर आंशिक रूप से होता है। बोगार्डस की धारणा है, कि "किसी नवीन विचार की स्वीकृति सामाजिक परिवर्तन का आरंभिक बिन्दु होता है। जीवन के किसी पक्ष के प्रति लोगों के असंतोष की अभिव्यक्ति इसी बिन्दु से प्रकट होती है।"<sup>2</sup>

परिवर्तनशीलता के कारण ही संस्थाओं, प्रथाओं, समितियों आदि के स्वरूपों एवं कार्यों में बदलाव आते रहते हैं। सामाजिक परिवर्तन को विभिन्न समाजशास्त्रीयों द्वारा इस प्रकार पारिभाषित किया गया है—

- **आलविन बॉसकौफ के अनुसार,** "सामाजिक परिवर्तन समझ में आने वाली एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके अंदर हम निश्चित सामाजिक व्यवस्थाओं की संरचना तथा प्रकार्य में घटित होने वाले महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों का पता लगा सकते हैं।"<sup>3</sup>

1 अग्रवाल, गोपाल कृष्ण, समाजशास्त्र, साहित्य भवन, आगरा, सन्-1980, पृ०सं०-301

2 विद्याभूषण, समाजशास्त्र के सिद्धान्त, किताब महल, इलाहाबाद, पंचम संस्करण-सन् 1989, पृ०सं०-662

3 शर्मा, एस०एस०, सामाजिक परिवर्तन, सरूप एण्ड संस, मेरठ, सन् 1986-87, पृ०सं०-6

- **प्रो० ग्रीन का कथन है,** "सामाजिक परिवर्तन समाज में सदैव विद्यमान रहता है क्योंकि प्रत्येक समाज में कुछ-न-कुछ मात्रा में असंतुलन सदैव बना रहता है।"<sup>1</sup>
- **गिन्सबर्ग के शब्दों में,** "सामाजिक परिवर्तन से हमारा तात्पर्य सामाजिक ढांचे में परिवर्तन होना है, अर्थात् समाज के आकार, इसके विभिन्न अंगों के बीच संतुलन अथवा समाज के संगठन में होने वाला परिवर्तन ही सामाजिक परिवर्तन है।"<sup>2</sup>
- **आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी सामाजिक परिवर्तन के विषय में लिखते हैं,** "हमारे सामने समाज का आज जो रूप है वह न जाने कितने ग्रहण और त्याग का रूप है।"<sup>3</sup>
- **सत्यकेतु विद्यालंकार के मतानुसार,** "किसी समाज के मनुष्यों की एक बड़ी संख्या यदि ऐसे कार्यों में लग जाए, जो उन कार्यों से भिन्न हो जिन्हें कि वे पहले स्वयं किया करते थे, तो इसे सामाजिक परिवर्तन कहा जाता है।"<sup>4</sup>

अतः सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध समाज से है। "सामाजिक सम्बन्धों में किसी भी प्रकार का अंतर जन्म लेने लगता है तो उसे सामाजिक परिवर्तन कहते हैं। तात्पर्य यह है कि सामाजिक संगठन, सामाजिक ढांचा, सामाजिक सम्बन्ध या समाज में होने वाले अंतरों को सामाजिक परिवर्तन कहते हैं।"<sup>5</sup> प्रत्येक वस्तु में विद्यमान न्यूनता तथा वृद्धि के नियम के आधार पर ही सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। मैकाइवर एवं पेज ने भी स्वीकार किया है, "समाजशास्त्रीयों के नाते हमारे प्रत्यक्ष सम्बन्ध सामाजिक सम्बन्धों से है। इनमें हुए परिवर्तन को ही हम सामाजिक परिवर्तन मानेंगे।"<sup>6</sup> इस प्रकार समाज का आधार सामाजिक सम्बन्ध हैं। इनमें किसी प्रकार का परिवर्तन होगा तो वह सामाजिक परिवर्तन कहलायेगा।

---

1 अग्रवाल, गोपाल कृष्ण, समाजशास्त्र, साहित्य भवन, आगरा, सन्-1980, पृ०सं०-301  
 2 श्रीवास्तव, विनोद, समाजशास्त्र, रजत प्रकाशन, नई दिल्ली, सन्-2011, पृ०सं०-235  
 3 शर्मा, श्यामबहादुर (संपा०), विश्व सूक्ति कोश, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, सन्-1985, पृ०सं०-1216  
 4 विद्यालंकार, सत्यकेतु, समाजशास्त्र, सरस्वती सदन, दिल्ली, सन्-1990, पृ०सं०-247  
 5 गर्ग, भैरू लाल, स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी में सामाजिक परिवर्तन, चित्रलेखा प्रकाशन, इलाहाबाद, सन्-1979, पृ०सं० 20-21  
 6 शर्मा, सुरजन सिंह, सामाजिक परिवर्तन, हरियाणा साहित्य अकादमी, पंचकूला, सन्-2007, पृ०सं०-47

मनुष्य स्वभाव से ही परिवर्तन प्रिय है। वह सदैव एक स्थिति में रहने, एक समान कार्य करने तथा एक प्रकार की विचारधारा रखने का आदी नहीं है। अपनी जिज्ञासु वृत्ति के कारण वह नवीनता की खोज करना चाहता है। यह सत्य है कि जब पुरानी मान्यताएँ अपना अर्थ खोने लगती हैं, तब जो नई मान्यताएँ उभरकर सामने आती हैं, वे सामाजिक परिवर्तन को जन्म देती हैं।

परिवर्तन जीवन का शाश्वत् धर्म है। इस धर्म के अनुसार समाज भी एक परिवर्तनशील व्यवस्था है। प्रत्येक युग में, प्रत्येक समाज में कुछ परिवर्तन होते हैं। परिवर्तनों के दौर में स्त्री की उपस्थिति अनिवार्य रूप से जुड़ी रही है। उसने धीरे-धीरे अपने अस्तित्व को पहचाना। उसमें चेतनता का भाव जागा। परिणामस्वरूप एक वैचारिक आंदोलन का सूत्रपात होना आरम्भ हो गया। इस आंदोलन को कई नाम से जाना जाता है—महिलावाद, नारी—मुक्ति आंदोलन और दुनिया के विभिन्न भागों में इसे कई अन्य नामों या नारों द्वारा जाना जाता है। आज नारी आंदोलन अपनी पूर्ण गति में है।

जीवन तथा साहित्य में पनपे स्त्रियों के इस नये आंदोलन के मूल में पूर्व की कुछ घटनाओं का योगदान अहम् रहा। सन् 1789 में फ्रांस में मानवाधिकारों, स्वतन्त्रता तथा समानता की माँगों को लेकर एक स्वस्थ शासन—व्यवस्था की प्रतिष्ठापना करने के लिए क्रांति का स्वर गूँजा। यह फ्रांसीसी क्रांति नारी सरोकारों के सन्दर्भ में भी मील का पत्थर साबित हुई। मेरी वाल्सटन क्राफ्ट की 'ए विण्डिकेशन ऑफ द राइट्स ऑफ वुमेन' (1792 ई०), जान स्टुअर्ट मिल की 'ऑन द सब्जेक्शन ऑफ वुमेन' (1869), बेट्टी फ्रीडेन की 'द फेमिनन मिस्टिक' आदि पुस्तकों ने स्त्री—समाज में हलचल पैदा कर दी। स्त्री—समाज ने अपने अधिकारों के लिए पुरुष समाज के विरुद्ध संघर्ष की भावना का बल पकड़ा। भारत में, 19वीं शताब्दी में इस संघर्ष के बीज पनपे। "उन्नीसवीं सदी को स्त्रियों की शताब्दी कहना बेहतर होगा क्योंकि इस सदी में सारी दुनिया में उनकी अच्छाई—बुराई, प्रकृति, क्षमताएँ एवं उर्वरा गर्मागर्म बहस का विषय थे।"<sup>1</sup>

1 कुमार, राधा, स्त्री संघर्ष का इतिहास, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सन्-2002, पृ०सं०-23

ब्रह्म समाज के संस्थापक राजाराममोहन राय ने स्त्री-शिक्षा पर बल दिया तथा सती-प्रथा के विरोध में आंदोलन चलाया। सन् 1829 में भारत के गवर्नर जनरल बने विलियम बेंटिक ने सती-प्रथा के उन्मूलन के लिए एक्ट पास किया। स्त्री-शिक्षा के लिए अनेक आंदोलन आरम्भ हुए। आंदोलनों के प्रभाव के कारण कई स्कूल खोले गये। 1810 ई० में अंग्रेज तथा ईसाई मिशनरियों द्वारा स्त्री-शिक्षा के लिए शिक्षण-संस्थाएँ खोली गईं। समाज-सुधारक ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने 'विधवा पुनर्विवाह' को शास्त्र-सम्मत मानते हुए सन् 1850 में इस पर लगे प्रतिबन्ध के विरुद्ध अभियान चलाया। सन् 1856 में 'विधवा पुनर्विवाह' का कानून अंग्रेज सरकार द्वारा पारित किया गया। प्रार्थना-समाज, रामकृष्ण मिशन जैसी संस्थाओं ने भी स्त्री को प्रताड़ित करने वाली कुप्रथाओं का विरोध किया। रामकृष्ण मिशन के उन्नायक स्वामी विवेकानन्द ने स्त्री-वर्ग को अपने शोषण के विरोध में स्वयं विद्रोही कदम उठाने के लिए प्रेरित किया। आर्य-समाज के पुरोधा स्वामी दयानन्द सरस्वती ने बहुपत्नीत्व, बाल-विवाह जैसी कुरीतियों का विरोध किया। स्त्री के समान शिक्षा के अधिकारों पर उन्होंने सदैव बल दिया। महात्मा गाँधी भी स्त्री को सदैव सम्माननीय मानते थे तथा उसकी शिक्षा पर बल देते थे।

भारतीय स्वाधीनता आंदोलन में स्त्रियों की सक्रिय भागीदारी के फलस्वरूप भारत को जहाँ वर्षों की औपनिवेशिक गुलामी से मुक्ति मिली, वहीं दूसरी ओर महिलाओं में भी अपनी विषम सामाजिक स्थिति के प्रति असंतोष का भाव तथा स्वाधीनता की चेतना जागृत हुई। इस संदर्भ में महादेवी वर्मा 'शृंखला की कड़ियाँ' में लिखती हैं, "भारतीय समाज में जिस अनुपात में स्त्री जागृत हो सकी, उसी के अनुसार अपनी सनातन सामाजिक स्थिति के प्रति उसमें असंतोष भी उत्पन्न होता जा रहा है।"<sup>1</sup>

सन् 1975 में नारीवादी आंदोलनों की बाढ़-सी आ गई। "पी ओ डब्ल्यू" यानी प्रगतिशील महिला संगठन से प्रभावित होकर माओवादी स्त्रियों ने पुणे में पुरोगामी स्त्री संगठन तथा बंबई में स्त्री मुक्ति संगठन का गठन किया। भारत में 8 मार्च को 'अन्तरराष्ट्रीय महिला दिवस' के रूप में पहली बार मनाया गया जिसमें

1 वर्मा, महादेवी, शृंखला की कड़ियाँ, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सन्-1941, पृ०सं०-105

पार्टी—आधारित तथा स्वायत्त, दोनों संगठनों ने बंबई में बड़े पैमाने पर भाग लिया।<sup>1</sup> इसके मूल में स्त्री मुक्ति आंदोलन की राजनीतिक एवं वैचारिक प्रतिबद्धता समझी जा सकती है, इसके द्वारा महिलाओं की स्थितियों में सुधार लाने का प्रयास समाहित था। ऐसे आंदोलनों के फलस्वरूप स्त्री की रूढ़ छवि में बदलाव संभव हुआ है।

आज स्त्री एक प्रतिबद्ध इकाई के रूप में आगे बढ़ रही है। वह गरीबी, निरक्षरता, अशिक्षा, शोषण के विरुद्ध आवाज बुलन्द कर रही है। वह अपने सपने एवं संकल्प को पूर्ण करती प्रतीत हो रही है। वह सैक्स जैसे विषयों पर अपनी राय व्यक्त कर रही है। वह नयी अभिवृत्तियों से जुड़ी नवीन ऊर्जा का संचार कर रही है। “नारी जागृति की लहर ने नारी के भीतर नारी—स्वतन्त्र व्यक्तित्व की, सत्ता की, चेतना फूँक दी, अतएव उसने जाना कि वह इन सम्बन्धों में बँधने से पूर्व व पश्चात् अपनी स्वतन्त्र सत्ता को लेकर उन्हीं भावनाओं को साकार होते देखना चाहती है। वह अपनी अस्मिता कायम करने में लगी है।”<sup>2</sup> आज यदि स्त्री को खुली किताब की संज्ञा दे दी जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। उसकी किताब का प्रत्येक पृष्ठ खुला हुआ है, उसके व्यक्तित्व में उन्मुक्त बहाव है, समय की गति से आगे बढ़ने की चाह एवं प्रतिभा है। दिनेश धर्मपाल के मतानुसार, “नारी—शक्ति को मापने के कई पैमाने हो सकते हैं। उसकी सफलता के सूत्रों को आँकने के कई मापदण्ड हो सकते हैं। अंततोगत्वा नये समाज के निर्माण में उसकी सामाजिक भूमिका को आँकना ही प्रमुख है। इसे आँके बिना हम उसमें आ रहे बदलाव और उसके माध्यम से समाज में आ रहे बदलाव का आकलन नहीं कर सकते। विगत सौ वर्षों में मानव—समाज का जो काया—कल्प हुआ है, उसमें नारी की भूमिका पुरुष से कम करके नहीं आँकी जा सकती। दरअसल पुरुष का विकास एकरेखीय विकास है और नारी का बहुआयामी। उसने कई क्षेत्रों में एक साथ विकास किया है। कई क्षेत्रों में प्रथमतः संस्पर्श कर उनमें अपने होने की पहचान भी बनाई है और नव—नव

1 कुमार, राधा, स्त्री संघर्ष का इतिहास, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सन्—2002, पृ०सं०—219

2 गुप्त, आशा, नवम् दशक की हिन्दी महिला कथाकारों की नारी—चेतना, कान्त पब्लिकेशन्स, दिल्ली, सन्—2001, पृ०सं०—52

कीर्तिमान भी जुटाये हैं।<sup>1</sup> स्त्री शताब्दियों तक आरोपित कोहरे की पर्तों के नीचे दबी रही, परन्तु जैसे ही कोहरा छना उसके व्यक्तित्व का विराट पक्ष अनेक रूपों में अवतरित होने लगा। स्त्री ने अपनी विकास यात्रा में पुरुष के अस्तित्व को नकारा या कम-अधिक नहीं आँका अपितु वह सदैव उसकी सहगामी बनने की ललक में रही।

स्त्री एक नया सामाजिक इतिहास रचने की दिशा में आगे बढ़ रही है। आज की शिक्षित नारी आत्मनिर्भर होकर आर्थिक-स्वातन्त्र्य प्राप्त करने लगी है किंतु उसे मिली यह स्वतन्त्रता अपूर्ण है। कामकाजी महिला दोहरी चक्की में पिस रही है। घर के बाहर वह अपनी रक्षा करते हुए अपने दायित्वों का निर्वाह करती है तथा घरेलू जीवन में घर की सभी जिम्मेदारियों का बोझ भी उसी पर रहता है। इन परिस्थितियों में भी वह समस्त व्यवधानों को पार करती हुई पितृसत्तात्मक समाज के समक्ष चट्टान की भाँति खड़ी हो गई है। उसके द्वारा किये गये समस्त प्रयास समाज के पटल पर दृश्यमान हो रहे हैं। अब वह मौन साधे अचेतन स्वरूपा नहीं है। स्त्री ने कुछ वर्षों में ही राजनीति के क्षेत्र में भी बड़ी छलॉग लगाई है। दुनिया-भर की महिलाएँ राजनीति को एक नया अर्थ देने में जुट गयी हैं। ग्राम पंचायत, जिला परिषद् समेत समस्त स्थानीय निकायों में, विधानमण्डलों तथा संसद आदि में उसकी सक्रिय भागीदारी है। मृणाल पाण्डे के अनुसार, "आज के भारत में यूँ तो किसी भी सार्वजनिक संस्थान का बन जाना ही उसकी सबसे बड़ी विशेषता मानी जा सकती है, लेकिन फिर भी दस लाख ग्रामीण स्त्रियों को शासन में सीधी भागीदारी के लिए ला बैठाने वाला पंचायतीराज, पिछले दस वर्षों (और दो चुनावों) के बीच की तमाम आँधियों के बीच भी कायम रहा। यह अपने आप में किसी चमत्कार से कम नहीं। जिन औरतों की सामान्य बुद्धि और शासन-क्षमता को लेकर सदियों से देश के हर राज्य में कड़ी फब्तियों और शंकाओं की भरमार रही हो, उन्हीं को एक तिहाई आरक्षित सीटें देकर जब पंचायतों में लाया गया तो कटु

---

1 धर्मपाल, दिनेश, स्त्री, भावना प्रकाशन, दिल्ली, सन्-2007, पृ०सं०-262

आशंकाओं तथा प्रतिघातपरक षड्यन्त्रों का ज्वर—सा उमड़ पड़ा था। लेकिन फिर भी गए दस सालों में पंचायती राज संस्थाओं में स्त्रियों की भागीदारी न सिर्फ कायम हुई, बल्कि 33 प्रतिशत के ऊपर सामान्य कोटे के अन्तर्गत भी कड़ियों के चुने जाने से उनकी भागीदारी का प्रतिशत लगातार बढ़ता गया है।<sup>1</sup>

आज स्त्री नूतन स्वर में है जिसमें पहली बार स्त्री को अपनी पहचान एवं गरिमा प्राप्त हुई है। अब सरकारें उसके पक्ष में आगे बढ़ने लगी हैं। उसके लिए शिक्षा, स्वास्थ्य, विकास के नवीन द्वार खोलने लगी हैं। संविधान द्वारा अनेक कानून उसकी रक्षा के लिए बनाये गये हैं। इसके अतिरिक्त उसे आरक्षण का लाभ भी दिया गया है। आज आम नारी समाज में खास स्थान रखती है। उसने यह सिद्ध किया है कि वह कोई निष्क्रिय शरीर नहीं है और न ही किसी की दासी अपितु वह तो मानवी है। वह स्वतन्त्र मनुष्य है, उसकी स्वतन्त्र इच्छाएँ हैं, स्वतंत्र मानसिकता एवं दृष्टि है। वह समाज की मुख्यधारा का आधा क्षितिज है।

इतिहास गवाह है कि स्त्री ने अपनी अस्मिता के लिए लम्बा संघर्ष किया है तथा मुक्ति संघर्ष की इस यात्रा में लेखन को महत्त्वपूर्ण माध्यम बनाया। अनेक महिला लेखिकाओं ने अपने लेखन द्वारा स्त्री संघर्ष एवं उसकी रूढ़ छवि में हुए परिवर्तनों के स्वर को अभिव्यक्ति दी है तथा दे रही हैं। समाज में स्त्री की निष्क्रिय छवि को तोड़ने के लिए उन्होंने वास्तविक जीवन के प्रश्नों को अपने लेखन में उठाया तथा सामाजिक सरोकारों तक साहित्य का विस्तार किया। प्रो० रोहिणी अग्रवाल के शब्दानुसार, “स्त्री—लेखन स्त्री की आकांक्षाओं का दर्पण है। वह मुक्त स्त्री के प्रारूप को प्रस्तुत नहीं करता। स्त्री—मानस के तलघर को बिना किसी छेड़छाड़ के सामने रखता है जहाँ व्यवस्था के विरोध में उफनती हुंकारों के साथ व्यवस्था में परित्राण पाने की बेचारगियां भी हैं, भेड़ की तरह जिबह होने की यंत्रणा के साथ भेड़िया बनकर दूसरों को लील जाने की कुटिलताएँ भी हैं। इसे मानवीय दुर्बलताओं की नैसर्गिक अभिव्यक्ति कहिए या अंतर्विरोधों का स्वीकार — स्त्री लेखन

---

1 पाण्डे, मृगाल, जहाँ औरतें गढ़ी जाती हैं, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा०लि०, नई दिल्ली, सन्-2006, पृ०सं०-85

पारम्परिक 'माइंड सेट' से लड़ने की कोशिश में परम्परा और 'माइंड सेट' दोनों की ताकत को एक ठोस सामाजिक-मानसिक सच्चाई और चुनौती के रूप में सतह पर लाता है।<sup>1</sup> स्त्री-साहित्य की अवधारणा 'साहित्य' से भिन्न है। स्त्री-साहित्य वस्तुतः स्त्री की अनुभूति का साहित्य है। ये ऐसी अनुभूतियाँ हैं जो अभी तक दबी, दमित एवं उत्पीड़ित थीं। महिला लेखिकाओं में मृणाल पाण्डे का नाम अग्रगण्य है। उनका स्त्री-विषयक चिन्तन सुदूर अंचल, गाँव-ढाणियों, झोंपड़पट्टी में रहने वाली अशिक्षित मुख्यधारा से कटी हुई महिलाओं तक पहुँचा है। उन्होंने बन्द कमरे में बैठकर चिन्तन नहीं किया अपितु स्वयं गाँवों-नगरों, महानगरों में जाकर, कई सरकारी एवं गैरसरकारी संगठनों के माध्यम से महिलाओं से प्रत्यक्ष बात की, उनके अनुभव सुने, समस्याएँ सुनीं, अभियोग-आरोप सुने तथा इन सबसे प्राप्त ठोस सत्य को अपने लेखन में उतारा। इसके पीछे उनका मुख्य ध्येय परिवर्तित समाज में स्त्री की स्थिति को आँकना था। मृणाल पाण्डे सही अर्थों में सुसंगत स्त्रीत्ववादी लेखिका हैं। जो भारतीय स्त्री की ठोस परिस्थितियों में जीती हैं। उन्होंने स्त्री की परिवर्तित परंपरागत छवि को उनके कर्म, श्रम तथा सामाजिक सम्बन्धों से जोड़ा है। उन्होंने अपने साहित्य में नारी संघर्ष एवं उसकी स्थिति में हुए बदलाव को वास्तविकता की भूमि प्रदान की है। लेखिका ने सदैव महिला सशक्तीकरण पर ही बल दिया है।

अतः परिवर्तन प्रकृति का नियम है। परिवर्तनशीलता के युग में स्त्री अपना मुकाम स्वयं बना रही है। वह कर्णधार तथा सूत्रधार है एवं स्वयं निर्धात्री भी है। दुनिया-भर में नारी विषयक चिन्तन-मनन चल रहा है परन्तु अभी भी स्त्री को लम्बा सफर तय करना है क्योंकि पूरी तस्वीर अभी भी धुँधली है। देश के स्वतन्त्र होने पर भी वह पूर्ण स्वतन्त्र नहीं है। सामाजिक परिदृश्य में एक नयी ताजगी अवश्य है परन्तु स्त्री अभी भी नये-पुराने प्रतिमानों से जकड़ी हुई है, आवश्यकता है कि जागरूकता को बढ़ाया जाए।

1 अग्रवाल, रोहिणी (प्र०), स्त्री लेखन : स्वप्न और संकल्प, राजकमल प्रकाशन प्रा०लि०, नई दिल्ली, सन्-2011, भूमिका से उद्धृत

## निष्कर्ष

मनुष्य समाजशील है। समाज का गठन जब से हुआ है समस्याओं का जन्म भी उसके साथ ही हो गया। समाज के विकास के साथ-साथ समस्याओं का स्वरूप भी बदलता गया और वे निरन्तर जटिल होती चली गयीं। स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज एक खास तरह की समस्याओं और प्रश्नों से घिरा है। गरीबी, निरक्षरता, पिछड़ापन, जातिवाद, आतंकवाद आदि समाज को हाशिये पर धकेल रहे हैं। राजनीतिक चेतना का उभार मनुष्य मात्र की प्रतिष्ठा में आस्था जागृति का रूप लेकर अधिकारों की रक्षा में खड़ा दिखाई देता है। यही कारण है कि आज अनेक सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक आन्दोलन हुए हैं, नये-नये कानून बने हैं और सम्पूर्ण सामाजिक परिदृश्य में एक नयी लहर तरंगायित करने का प्रयास हुआ है, इसमें साहित्यकारों का योगदान भी अहम् रहा है, जिन्होंने सामाजिक सरोकारों को शिद्दत से निभाया। समाज को जगाने के लिए लेखकों ने साहित्य जैसे प्रभावी माध्यम को अपना हथियार बनाया जिससे समाज में क्रांति के बीज बोये गये, फलतः विश्वक्रांतियाँ आज हमारे सामने हैं। वर्तमान समय के सरोकारों को लेकर लेखन करने वाले रचनाकारों में मृणाल पाण्डे का नाम सर्वोपरि है। वे एक मंझी हुई कथाकार हैं, उनकी चलाई कलम आज के संदर्भ में समकालीनता एवं सार्थकता की दावेदार है।

\*\_\*\_\*\_\*\_\*